
इकाई 20 समकालीन हिन्दी कहानी

इकाई की रूपरेखा

- 20.0 उद्देश्य
- 20.1 प्रस्तावना
- 20.2 समकालीन हिन्दी कहानी की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
- 20.3 समकालीन हिन्दी कहानी : अर्थ, इतिहास और संरचना
 - 20.3.1 अर्थ, इतिहास और स्वरूप
 - 20.3.2 आलोचना, विचारधारा और प्रमुख कहानियाँ
- 20.4 समकालीन हिन्दी कहानी : प्रवृत्तियाँ, समाज और प्रक्रियाएँ
 - 20.4.1 लोकतंत्रीय व्यवस्था में आम आदमी और मध्यवर्ग
 - 20.4.2 कृषक—मजदूर समाज
 - 20.4.3 स्त्री—समाज
 - 20.4.4 दलित समाज
 - 20.4.5 आदिवासी एवं हाशिये के अन्य समाज
 - 20.4.6 अप्रवासी समाज
 - 20.4.7 अल्पसंख्यक समाज
 - 20.4.8 भूमंडलीकरण, बाजारवाद और नयी सदी का भारतीय समाज
- 20.5 समकालीन हिन्दी कहानी : कला, भाषा और ज़िन्दगी का यथार्थ
- 20.6 सारांश
 - अभ्यास

20.0 उद्देश्य

यह एम.ए. हिन्दी के द्वितीय वर्ष के कहानी से संबंधित माड्यूल के पाठ्यक्रम ' कहानी : स्वरूप और विकास' से संबंधित 'हिन्दी साहित्य में कहानी', खण्ड – पाँच की आखिरी इकाई है। इस इकाई में आप नई कहानी और साठोत्तरी कहानी के बाद की हिन्दी कहानी का अध्ययन करेंगे जिसे हम 'समकालीन हिन्दी कहानी' के रूप में जानते हैं। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- नई कहानी एवं साठोत्तरी कहानी के बाद की हिन्दी कहानी – 'समकालीन हिन्दी कहानी' का अर्थ, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और इतिहास को समझ पायेंगे/पायेंगी।
- समकालीन हिन्दी कहानी की आलोचना, विचारधारा और प्रमुख कहानियों से परिचित हो सकेंगे/सकेंगी,
- समकालीन हिन्दी कहानी की प्रमुख प्रवृत्तियों को जान पायेंगे/पायेंगी,
- समकालीन हिन्दी कहानी के केंद्र में आये स्त्री, दलित एवं हाशिये के अन्य समाज के महत्त्व को समझ सकेंगे/सकेंगी,

- समकालीन समाज, राजनीति, अर्थ (आर्थिक) एवं अन्य क्षेत्रों में हो रहे संघर्ष तथा परिवर्तन और विकास की प्रक्रियाओं से परिचित हो सकेंगे/सकेंगी,
- समकालीन कहानी की भाषा, कला और ज़िंदगी के यथार्थ के साथ उसके संबंध को गहराई से समझ सकेंगे।

20.1 प्रस्तावना

साहित्य के इतिहास में कहानी का महत्वपूर्ण स्थान है। आलोचना और विचारधारा की दुनिया के लोगों ने इसे जीवन को समझने की कला और विधा के रूप में लिया है। हिन्दी के प्रसिद्ध कथाकार प्रेमचंद और रूस के महत्वपूर्ण लेखक मैक्सिम गोर्की भी कहानी को मानव-जीवन का अभिन्न अंग मानते थे। इसलिए जब भी साहित्य के इतिहास पर विचार होता है, उसमें कहानी और उसके इतिहास एवं उसमें अभिव्यक्त मानव-जीवन के यथार्थ को बुनियादी तौर पर अलग से समझने की कोशिशें होती रही हैं; चाहे वह प्रेमचंद-युगीन कहानी का मसला हो अथवा नयी कहानी या समकालीन कहानी का। साहित्य भी अन्य-विधाओं के समानांतर कहानी में मनुष्य के मन एवं समाज में उसकी उपस्थिति का कलात्मक आख्यान देखने को मिलता है। यह आख्यान इतना आकर्षक होता है कि बच्चे से लेकर बूढ़े तक उसमें दिलचस्पी लेते दिखाई पड़ते हैं। इसलिए साहित्यिक विधाओं के किसी विशेष कालखण्ड का वस्तुपरक अध्ययन हमें यह अवसर प्रदान करता है कि रचनाओं अथवा कहानी में व्यक्त जीवन और समाज के साथ उसका यथार्थ संबंध को हम समकालीन संदर्भों में किस रूप में देखें तथा विचार करें। उनमें मनुष्य-मात्र के लिए निर्मित स्थान की खोज करें। कथा-साहित्य के इतिहास में समकालीन कहानी का अध्ययन भी हमें इसी प्रकार का अवसर प्रदान करता है।

दरअसल रचना और विचारधारा की दुनिया में कथा-कहानी का जो शास्त्र है उसका गहरा संबंध कहानी कहने, कथा के चुनने और कहने के समय से है। समकालीन हिन्दी कहानी पर विचार करते हुए यह बात साफ होती है कि इस दौर के कहानीकारों ने समकालीन समय, समाज-परिवर्तन एवं विकास की प्रक्रियाओं को ध्यान में रखते हुए कहानी की दुनिया रची है। इसीलिए इस दौर के कहानियों की जो दुनिया है, वहाँ कहानी के रचने अथवा सर्जनात्मकता की ये प्रक्रियाएँ इतनी जटिल और विविधतापूर्ण हैं कि उन पर विचार एवं उनका आकलन करना अत्यंत दुःसाध्यपूर्ण कार्य है। इसीलिए मैक्सिम गोर्की सृजनात्मकता के इतिहास को मानव इतिहास से कहीं अधिक दिलचस्प और महत्वपूर्ण मानते थे। कारण, मानव-इतिहास को समझने के लिए बहुत सारे तथ्यात्मक संदर्भ होते हैं परंतु सृजनात्मकता का जो इतिहास है वह लेखक-कलाकार की जिन्दगी, उसके जाने-अनजाने परिवेशों, प्रसंगों, अनुभवों एवं विचारों के कई ऐसे पक्षों से निर्धारित और नियंत्रित होता है जिसे समझने के लिए सृजन की उदात्ता तक पहुँचना पड़ता है। यह यात्रा रोचक होने के साथ-साथ अत्यंत जटिल भी होती है। उदाहरण के लिए, समकालीन हिन्दी कहानी, सिर्फ वस्तु और कला की दृष्टि से ही महत्वपूर्ण नहीं है बल्कि यहाँ इतिहास, सामाजिक विमर्श, वैचारिकताओं की टकराहट, राजनीतिक संघर्ष, अनुभव आदि की ऐसी अनेक निर्मितियाँ दिखलाई पड़ती हैं जिसे मात्र पारंपरिक तरीके से नहीं समझा जा सकता है। उसे समझने के लिए इतिहास, समाजशास्त्र, राजनीति विज्ञान, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, मनोविज्ञान आदि की समझ के साथ-साथ मानव-स्वभाव के सर्जनात्मक पक्ष की समझ होनी भी जरूरी है। कारण, समकालीन हिन्दी कहानी की

दुनिया में इतनी तरह की विविधताएँ हैं कि पाठकों का जब उनसे सामना होता है, तब वे तय नहीं कर पाते हैं कि वे कोई कहानी पढ़ रहे हैं अथवा सामाजिक-संघर्षों में स्त्री और दलित-जीवन का इतिहास देख रहे हैं; सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तन एवं विकास की बारीकियों से गुजर रहे हैं या अर्थशास्त्र अथवा बाजारवाद के व्यावहारिक पक्ष की जानकारी प्राप्त कर रहे हैं। इसी प्रकार भूमण्डलीकरण की कई ऐसी प्रक्रियाएँ हैं, जो इधर के नये कहानीकारों में साफ-साफ दिखलाई देती हैं। यहाँ इन्टरनेट की दुनिया से लेकर एक सुविधाभोगी भौतिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नव-निर्मित उत्पादनों की भरमार है जिसमें आज की जिन्दगी के यथार्थ को एक नये ढंग से रचा जा रहा है और मनुष्य है कि उसके मायाजाल से निकल ही नहीं पा रहा है। उदाहरण के लिए, पंकज बिष्ट ने 'बच्चे गवाह नहीं हो सकते', उदय प्रकाश ने 'तिरिछ', संजीव ने 'अपराध', चित्रा मुद्गल ने 'लकड़बग्घा', प्रेमकुमार मणि ने 'खोज', ओमप्रकाश वाल्मीकि ने 'सलाम', अखिलेश ने 'चिट्ठी', संजय खाती ने 'पिंटी का साबुन' और अवधेश प्रीत ने 'नृशंस' में समकालीन समय, समाज, राजनीति के यथार्थ तथा बाजारवाद के मायाजाल में फंसे मनुष्य एवं उसके अंतर्मन की बेचैनी, भय, अंतर्द्वंद्व आदि का प्रभावशाली चित्रण अपनी कहानियों में किया है। खास बात यह है कि परिवर्तन और नये विकास की इन प्रक्रियाओं को सन् सत्तर के बाद से लेकर आज तक के कहानीकारों ने एक नयी भाषा और कलात्मक यथार्थ के साथ गढ़ा है।

वस्तुतः साहित्य एवं समाज के बीच की यह वही सन्धि बेला है जिसे समकालीन साहित्य अथवा कहानी का अध्ययन करते हुए समझा जा सकता है। यद्यपि कहानी के समानान्तर साहित्य की अन्य विधाओं में भी समकालीन समाज की सोच और समय की उपस्थिति दिखलाई पड़ती है चाहे वह उपन्यास हो या कविता; परन्तु समकालीन कहानी में समकालीन समाज की जिन्दगी तथा सोच में आये परिवर्तनों का जितना यथार्थ दिखलाई पड़ता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। कारण, आज की कहानी में कला भी है और समाज की समझ भी; जिन्दगी के यथार्थ से जुड़ी सर्जनात्मक भाषा भी है और उसे अन्य वृहत्तर सामाजिक समुदायों के साथ जोड़कर सार्वजनिक चरित्रों के निर्माण की क्षमता भी। कहा जा सकता है कि सन् 1947 में स्वाधीनता के बाद सामाजिक परिवर्तन एवं विकास का जो दौर शुरू हुआ तथा उसमें जो संक्रमणकालीन स्थितियाँ बनी, उसे समझने में समकालीन कहानी ने एक हद तक मदद की। इस दौरान, खासकर 1967 के नक्सलबाड़ी की घटना के बाद भारतीय सामाजिक जीवन की मुख्यधारा के अन्दर और बाहर के जिन सार्वजनिक चरित्रों का नायकत्व के स्तर पर हिन्दी के कहानीकारों ने निर्माण किया, उसे समकालीन कहानी में साफ-साफ देखा जा सकता है चाहे वे स्त्री-चरित्र हो अथवा दलित, किसान अथवा मजदूर। एक खास परिस्थितियों में उभरकर आये इन चरित्रों ने समकालीन कहानी को नयी कहानी एवं साठोत्तरी कहानी के तथाकथित मध्यवर्गीय चरित्रों बौद्धिकता, सांकेतिकता के साथ ही पात्रों को निष्क्रियतापन (सचेतन कहानी) तथा किसी भी प्रकार के मूल्य की स्थापना की प्रक्रिया (अचेतन) से बाहर निकाला और रचना तथा विचार की दुनिया में यथार्थ और आम आदमी के महत्त्व को स्थापित किया। यद्यपि यह आम आदमी समकालीन सत्ता के आतंक और दबाव से मुक्त नहीं था, परन्तु 1967 के बाद खास बात यह हुई कि यह समकालीन संगठनों और विचारों से जुड़कर अत्यंत ताकतवार हो उठा; और अब स्थिति यह है कि वह अपनी गतिशीलता से समकालीन दुनिया और उसकी निर्मितियों (जैसे- वर्ण एवं जाति केंद्रित सामाजिक व्यवस्था, आर्थिक उदारीकरण एवं भूमणलीकरण की प्रक्रियाएँ आदि) को प्रभावित कर रहा है।

20.2 समकालीन हिंदी कहानी की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

सवाल है, समकालीन कहानी की दुनिया में आये ये आम चरित्र जो सामाजिक जीवन की मुख्यधारा के अंदर और बाहर हाशिये पर थे, अचानक केंद्र में कैसे आ गये ? कारण क्या थे ? यह सब अचानक हुआ अथवा इसके पीछे कुछ सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियाँ कार्य कर रही थी ? इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझने के लिए हमें थोड़ा पीछे जाना पड़ेगा कि आखिर क्यों सन '70 के बाद की हिन्दी कहानी में अचानक स्त्री, दलित आदि जैसे हाशिये के अनेक ऐसे सार्वजनिक चरित्रों की प्रभावशाली उपस्थिति दिखलाई पड़ती है जो पहले नहीं थी। यद्यपि प्रेमचंद, जयशंकर प्रसाद, जैनेंद्र, शिवपूजन सहाय आदि की कहानियों में भी स्त्री और दलित पात्र (मजदूर) हैं तथा साठोत्तरी कहानी में ज्ञानरंजन, रामकुमार, भीष्म साहनी, दूधनाथ सिंह, रमेश बक्षी, काशीनाथ सिंह, गिरिराज किशोर, सतीश जमाली, अशोक सेक्सरिया, विजयमोहन सिंह, इब्राहिम शरीफ, गंगा प्रसाद विमल, दूधनाथ सिंह, कृष्णा सोबती, रवींद्र कालिया, कृष्ण बलदेव वैद, काशीनाथ सिंह, जगदम्बा प्रसाद दीक्षित, शैलेश मटियानी, बदीउज्जमा, से. रा. यात्री, ममता कालिया, इसराइल, राजी सेठ, रमेश बक्षी, मधुकर सिंह, आदि की कहानियों में भी ये एवं हाशिये के अन्य समाज उपस्थित हैं; लेकिन समकालीन हिन्दी कहानी में आये मजदूर, किसान स्त्री और दलित जैसे आम पात्र उनसे भिन्न इस अर्थ में है कि वह 'सद्गति' के दुःखी चमार की तरह असहाय नहीं है; बल्कि विजेंद्र अनिल के 'विस्फोट' के कवलेसर और ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानी 'सलाम' के हरीश की तरह सामंती और ब्राह्मणवादी व्यवस्था के खिलाफ सीना तानकर खड़े हैं। ये भारतीय परंपरा में पवित्र और महान समझे जानेवाले संकेतों तथा शोषणवादी व्यवस्था को मानने से इन्कार कर देते हैं जिसे नई कहानी तक में आये दलितपात्र भी अस्वीकार करने का साहस नहीं कर पाते थे तथा अपने समाज के वर्चस्ववादी ताकत के दबाव को चुपचाप सहने के लिए बाध्य थे। लेकिन सन् 70 तक आते-आते ऐसा नहीं रह गया। नक्सलवादी सहित अन्य जन-आंदोलनों ने उन्हें यह साहस प्रदान किया कि शोषण एवं दमनकारी व्यवस्था का प्रतिरोध कर सकें। कमलेश्वर ने 'सारिका' के अक्टूबर 1974 ई अंक में कहानी में आये इस प्रकार के आम आदमी की चर्चा करते हुए लिखा है कि "यह पूरा देश अब एक भयंकर दलदल बन चुका है और इसे दलदल बनाने वाले लोग प्राचीरों-परकोटों पर जाकर बैठ गए हैं और दलदल में फंसते, दम तोड़ते आम आदमी के मरण उत्सव मना रहे हैं..." फिर उपाय क्या है ? कमलेश्वर ने इसी संपादकीय में लिखा है कि "इतिहास जब नंगा हो जाता है तो संपूर्ण संघर्ष के अलावा और कोई विकल्प नहीं रह जाता..." यहाँ तक कि कमलेश्वर ने 4 मार्च 1977 से शुरुआत की जिसमें 'आम आदमी : जिंदा सवाल' को बहस के केंद्र में खड़ा किया। कामतानाथ, इब्राहिम शरीफ, रमेश उपाध्याय, जितेंद्र भाटिया, सुधा अरोड़ा, मधुकर सिंह, मिथिलेश्वर, निरूपमा सेवती आदि कहानीकारों ने इस दौरान आम आदमी की जिंदगी के यथार्थ से जुड़ी अनेक कहानियाँ लिखी। यद्यपि शैलेश मटियानी एवं रामदरश मिश्र ने समानांतर कहानी आंदोलन का समर्थन नहीं किया, परंतु इसने समकालीन कहानी की पहचान बनाने में मदद की, नये कहानीकार को गतिशील समाज से जोड़ा।

दरअसल समकालीन हिन्दी कहानी की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझने के लिए समकालीन कहानी की उन प्रवृत्तियों पर भी गौर करना पड़ेगा, जो सामाजिक एवं पारिवारिक कहानियों से भिन्न है। उदाहरण के लिए, अगर हम विचार करें तो समकालीन हिन्दी कहानी में जिन विषयों को केन्द्र में रखकर कहानियाँ लिखी गई है, इनमें कृषि संबंधी संघर्ष, स्त्री-समाज, दलित-समाज, आदिवासी एवं हाशिये के अन्य समाज,

सांप्रदायिकता एवं अल्पसंख्यक समाज, भूमंडलीकरण एवं बाजारवाद के कारण उभरता नया भारतीय समाज आदि प्रमुख है। 1947 ई. में देश आजाद हुआ, लेकिन आजादी के बाद जिस बड़े पैमाने पर सांप्रदायिक दंगे हुए, उसने हमारी सदियों से चली आ रही साझी संस्कृति और जातीय विरासत को ध्वस्त कर दिया। रही सही कसर 1992 ई. में बाबरी मस्जिद के ध्वंस ने पूरी कर दी। इन सबका गहरा असर रचना और विचार की दुनिया पर भी पड़ा और हिन्दी कहानी में स्वयंप्रकाश, पंकज बिष्ट, उदयप्रकाश, शिवमूर्ति, गीतांजलिश्री, अवधेश प्रीत, हृषिकेश सुलभ आदि ने सांप्रदायिकता से जुड़ी विचारशील कहानियाँ लिखी। कहा जा सकता है कि यदि 1992 में बाबरी मस्जिद की घटना नहीं हुई होती और सन् 47 का विभाजन नहीं होता तो शायद ही हिन्दी में 'पार्टीशन' (स्वयंप्रकाश), 'और अंत में प्रार्थना' (उदय प्रकाश), और 'बशारत मंजिल' (अवधेश प्रीत), जैसी कहानियाँ लिखी जाती।

इसी प्रकार, 1956 ई. में अंबेडकर द्वारा हिन्दू धर्म छोड़कर अपने समर्थकों के साथ बौद्ध धर्म में प्रवेश करने की घटना एवं 1967 ई. में पश्चिम बंगाल के नक्सलबाड़ी में जमींदारों और किसानों-मजदूरों के साथ हुए संघर्षों ने भारतीय समाज, राजनीति और गाँव की जिन्दगी पर गहरा असर डाला। इन संघर्षों एवं घटनाओं ने भारतीय समाज की वर्ण तथा जाति केंद्रित व्यवस्था को झकझोर कर रख दिया। सातवें दशक में गाँवों में बड़े पैमाने पर कृषि संबंधी संघर्ष हुए जिसके केंद्र में दलित, सीमांत किसान और मजदूर थे। इन सामाजिक वर्गों तथा समुदायों ने शोषण और दमनकारी व्यवस्था के मनमानेपन और असमानता के खिलाफ जो आंदोलन छेड़ा उससे कहानी की दशा और दिशा पर भी गहरा असर पड़ा। परिणामतः किसानों और मजदूरों को लेकर जहाँ विजेंद्र अनिल, मधुकर सिंह, विजयकान्त, इब्राहिम शरीफ, रमेश उपाध्याय, इसराइल, हृदयेश, सतीश जमाली, शैवाल, हृषिकेश सुलभ, अरुण प्रकाश, संजीव, महेश कटारे, सुरेश कांटक, सृजय, मिथिलेश्वर, मदन मोहन, चंद्रकिशोर जायसवाल आदि ने संघर्षशील हाशिए के लोगों की कहानियाँ लिखी; वहाँ ओमप्रकाश वाल्मीकि, मोहनदास नैमिशराय, सुशीला टाकभौरे, जयप्रकाश कर्दम, श्यौराज सिंह बेचैन, शत्रुघ्न कुमार, रत्नकुमार सांभरिया, बुद्धशरण हंस, दयानन्द बटोही, सूरजपाल चौहान, प्रहलाद चन्द दास, एस.आर. हरनोट, देव नारायण पासवान आदि ने दलित जीवन की कहानियों के माध्यम से वर्ण एवं जाति के कारण शोषित दलित समाज के उत्पीड़न को गहरे आक्रोश के साथ व्यक्त किया।

वस्तुतः समकालीन कहानी के रचना-विधान में 1956 के बाद अंबेडकर के प्रभाव में हुए दलित आंदोलन, 1967 के नक्सलबाड़ी के संघर्ष, 1992 के सांप्रदायिक उन्माद, भूमंडलीकरण, आर्थिक उदारीकरण सहित मेधा पाटकर जैसे कर्कशताओं द्वारा चलाये जा रहे जन-आंदोलनों की निर्णायक भूमिका रही है। बदलाव के स्तर पर देखें तो किसानों-मजदूरों के संघर्ष और दलित समाज के प्रतिरोध ने उस पारंपरिक और ऐतिहासिक सत्ता (ब्राह्मणवादी-सामन्तवादी) पर गहरी चोट की जिसे हमारा समाज सदियों से चलाये जा रहा था। दलित समाज का ब्राह्मणवाद (जिसे मनुवाद भी कहा जाता है) के खिलाफ प्रतिरोध और सीमांत कृषक-मजदूर समाज का सामन्तवाद के खिलाफ हुए संघर्ष ने सामाजिक जीवन की मुख्यधारा के अन्दर और बाहर हाशिये की जिन्दगी व्यतीत कर रहे सामाजिक समुदायों के अन्दर एक स्वाभिमान का भाव जगाया। इस बीच देश में प्रगतिशील आंदोलनों से जुड़ी मीरा सावदा, सुजाता घोटोस्कर, इला भट्ट, मेधा पाटकर, मृणाल गोरे जैसे स्त्री आंदोलनकारियों एवं सेवा, प्रगतिशील महिला संगठन (हैदराबाद), पुरोगामी स्त्री संगठन (पुणे), स्त्री मुक्ति संगठन (मुंबई), दलित स्त्रियों का महिला समता सैनिक दल, स्त्री शक्ति संगठन (हैदराबाद) जैसे स्त्रीवादी संगठनों के प्रभाव में स्त्रियों

के अन्दर एक नयी प्रकार की चेतना का उदय हुआ तथा सामाजिक-आर्थिक असमानता एवं पितृसत्ता के खिलाफ धरने और प्रदर्शन हुए। साहित्य की दुनिया भी उससे प्रभावित हुई। 1967 में कृष्णा सोबती की 'मित्रो मरजानी' का प्रकाशन और उसके बाद मन्नू भंडारी के 'आपका बंटी' (उपन्यास) एवं मृदुला गर्ग के 'चित्तकोबरा' (उपन्यास) के प्रकाशन ने पितृसत्ता और उसके द्वारा स्त्रियों के लिए निर्मित नैतिकता के बन्धन पर कठोर हमले किये जिसका असर बाद में सुधा अरोड़ा, मृणाल पाण्डेय, चित्रा मुद्गल, मंजुल भगत, कमल कुमार, नासिरा शर्मा, अर्चना वर्मा, मैत्रेयी पुष्पा, रमणिका गुप्ता, अनामिका, कात्यायनी, गीतांजलि श्री, सविता सिंह, अलका सरावगी, कौशल्या बैसंत्री, जया जादवानी, सुशीला टाकभौरे, उर्मिला शिरीष आदि की रचनाओं में देखा जा सकता है। यद्यपि 1992 के बाद शुरू हुए आर्थिक उदारीकरण और भूमंडलीकरण के दौर में विज्ञापनों में 'स्त्रियों' की भूमिकाओं को लेकर एक नये प्रकार की बहस हुई, लेकिन खास बात यह हुई कि इस प्रक्रिया ने एक तरफ जहाँ आर्थिक स्तर पर स्त्रियों के स्वावलंबन के नये द्वारा खोलें; वहीं दूसरी तरफ शोषण और उत्पीड़न का एक नया तंत्र भी खड़ा किया। प्रभा खेतान, मधु कांकरिया, चित्रा मुद्गल ने अपनी कहानियों और उपन्यासों में इन सवालों को गंभीरता के साथ उठाया।

इसी प्रकार सेज (Special Economic Zone) एवं विश्व-ग्राम से जुड़े नये आर्थिक विकास के नाम पर किसानों और आदिवासियों की जमीनों का अधिग्रहण किया गया जिसने संक्रमणकालीन समाज को एक नये तरह के संघर्ष के लिए मानसिक तौर पर तैयार होने में मदद की। मेधा पाटकर द्वारा आदिवासियों एवं वंचित समूहों के लिये किये गये आंदोलनों ने भी रचना और विचार की दुनिया को प्रभावित किया। वीरेंद्र जैन, संजीव, मनमोहन पाटक, भालचंद्र जोशी, कैलाश वनवासी, पीटर पॉल एक्का, निर्मला पुतुल, हरिराम मीणा आदि की रचनाओं में आदिवासी समाज के विस्थापन से जुड़े सवालों को देखा जा सकता है।

दरअसल मार्शल मैक्लूहान द्वारा तकनीक और संचार क्रांति के आधार पर परिकल्पित मौजूदा 'विश्व ग्राम' (Global Village) की धारणा ने सैटेलाइट संसार द्वारा पूरी धरती को एक गाँव में बदल देने की भविष्यवाणी ने लोगों को आकर्षित किया। कुछ ने इसे नयी सदी का विकास एवं निर्माण कहा; जहाँ इन्टरनेट से लेकर सत्ता के दबाव से मुक्त बाजार एक 'ग्लैमर दुनिया' की रचना में संलग्न है, तो कुछ प्रगतिशील विचारकों ने इसे उत्तर आधुनिक समय का सबसे बड़ा छलावा बताया। पर महत्वपूर्ण बात यह है कि इसने समकालीन कथा साहित्य को एक नयी जमीन प्रदान की। पंकज बिष्ट, उदय प्रकाश, नासिरा शर्मा, प्रेमकुमार मणि, अखिलेश, हरि भटनागर, ओमप्रकाश वाल्मीकि, संजय खाती, रणेन्द्र, प्रदीप सौरभ, पंकज सुबीर, जया जादवानी आदि की रचनाओं में नई सदी के इस समय की बेचैनी; अर्न्तद्वंद्व, उत्साह, पीड़ा, भय आदि के भावों का प्रभावशाली चित्रण देखा जा सकता है। इनसे जुड़े सवालों पर समकालीन कथाकारों ने गहराई के साथ विचार किया है और उन्हें विचार तथा बहस का विषय भी बनाया है।

20.3 समकालीन हिन्दी कहानी : अर्थ, इतिहास और संरचना

वास्तव में समकालीन हिन्दी कहानी का जो अर्थ, इतिहास और संरचना है, वह अनेक तरह के अनुभवों, विचारों और जन-आंदोलनों से निर्मित एक समकालीन यथार्थ है। जिस तरह से प्रेमचंद युगीन कहानी को समझने के लिए गाँधी के स्वाधीनता आन्दोलन के साथ-साथ भगत सिंह के क्रांतिकारी एवं अंबेडकर के दलित आन्दोलन को एक विशेष

कालखण्ड में निर्मित रचनात्मक यथार्थ के रूप में समझना जरूरी है; ठीक उसी प्रकार समकालीन कहानी को भी समझने के लिए एक विशेष कालखण्ड में निर्मित यथार्थ और उसके प्रमुख कारकों भी समझना जरूरी है। उदाहरण के लिए, सन् साठ के बाद के स्त्री आंदोलन, अंबेडकर के प्रभाव में महाराष्ट्र सहित देश के अनेक हिस्सों में शुरू हुए दलित आंदोलन, 1967 का नक्सलवाद, 1990 के बाद आर्थिक उदारीकरण, भूमंडलीकरण, बाबरी मस्जिद के ध्वंस आदि संदर्भ समकालीन हिंदी कहानी की संरचना को गढ़ते हैं। आगे, हम इन पर और इनके प्रभाव में निर्मित समकालीन कहानी की स्थितियों पर विचार करेंगे।

20.3.1 अर्थ, इतिहास और स्वरूप

समकालीन हिन्दी कहानी का अर्थ क्या है ? इसका इतिहास क्या है ? इसके स्वरूप को हम कैसे निर्धारित करेंगे ? कुछ विचारकों का कहना है कि 'समकालीन' सिर्फ एक शब्द है, जिसका अर्थ है — 'तत्कालीन' अथवा 'एक ही समय का भावबोध'। दूसरे शब्दों में, जब कोई व्यक्ति या दूसरे के समानांतर एक समान समय अथवा युग में मौजूद रहता है तब उसे समकालीन समझा जा सकता है। कुछ विचारक इससे एक 'आधुनिक विचार' भी मानते हैं। पश्चिमी विचार में इस शब्द का प्रयोग अथवा व्यवहार 17वीं सदी के मध्य में होना शुरू हुआ जिसका अर्थ होता था — एक दूसरे के साथ और अल्पकालिक समय। कुछ इसे 'वर्तमान समय' के रूप में भी लेते हैं। कला और साहित्य की दुनिया में जब सर्जकों ने तत्कालीन या समसामयिक चीजों, घटनाओं अथवा 'व्यक्तियों' को कला और साहित्य का विषय बनाना शुरू किया, तब कहा गया कि उस कला या साहित्य में समकालीन समय की उपस्थिति दिखलाई पड़ रही है। उदाहरण के लिए, दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान कुछ फिल्मकारों ने समकालीन समय (जैसे—युद्ध के परिदृश्य/प्रभाव) को फिल्माया। जर्मनी और फ्रांस के बर्तोल्त ब्रेख्त, ग्युंटर ग्रास, ज्यां पाल सार्त्र जैसे लेखकों ने युद्ध के प्रभाव को अपनी रचनाओं में संवेदनात्मक स्तर पर चित्रित किया। हिन्दी में सन् 70 के बाद जब कहानीकारों ने नक्सलवाद, इमरजेंसी, गरीबी, भूख, साम्प्रदायिकता, भूमंडलीकरण आदि जैसी सामने घट रही समकालीन स्थितियों को कहानी का विषय बनाना शुरू किया, तब आलोचकों ने कहा कि यह तो समसामयिक समाज एवं जीवन स्थितियों का चित्रण है। कहानी आलोचक मधुरेश ने भी कहानी में 'समकालीन' संदर्भ की चर्चा करते हुए लिखा है कि "समकालीन होने का अर्थ सिर्फ समय के बीच होने से नहीं है। समकालीन होने का अर्थ है समय के वैचारिक और रचनात्मक दबाव को झेलते हुए उनसे उत्पन्न तनावों और टकराहटों के बीच अपनी सर्जनशीलता द्वारा अपने होने को प्रभावित करना।" अर्थात् 'समकालीन' का एक अर्थ यह भी है कि कलाकार या लेखक समय के दबाव का स्वयं गवाह होता है। यदि हम समकालीन कहानीकारों में स्वयं प्रकाश (पार्टीशन), पंकज बिष्ट (बच्चे गवाह नहीं हो सकते), उदय प्रकाश (तिरिछ, और अंत में प्रार्थना), संजीव (दुनिया की सबसे हसीन औरत) संजय (कामरेड का कोट), शिवमूर्ति (तिरिया चरित्तर), प्रेमकुमार मणि (खोज), शमोएल अहमद (सिंगारदान), चित्रा मुद्गल (लकड़बग्घा, ब्लेड), मृणाल पाण्डेय (लड़कियां), अखिलेश (चिट्ठी, बायोडाटा), अरुण प्रकाश (मैया एक्सप्रेस, जल प्रांतर), ओमप्रकाश वाल्मीकि (सलाम), सुशीला टाकभौरे (सीलिया), मिथिलेश्वर (मेघना का निर्णय), मुर्शरफ आलम जौकी (गुलामबख्श) एस.आर. हरनोट (जीन—काठी) चंद्रकिशोर जायसवाल (नकबेसर कागा ले भागा), जयप्रकाश कर्दम (नो बार), संजय खाती (पिंटी का साबुन), अवधेश प्रीत (नृशंस, लबरा), देवेन्द्र (क्षमा करो हे वत्स) आदि की कहानियाँ देखें तो साफ पता चलता है कि इन कहानीकारों ने समकालीन समय के दबाव को महसूस करते हुए अपनी कहानियों में ज़िन्दगी के यथार्थ का गंभीर चित्रण किया है; चाहे वह राजनीति हो या समाज, धर्म (साम्प्रदायिकता) हो या

अर्थ (भूमंडलीकरण—उदारीकरण से संबंध) अथवा हाशिये के समाज के मौलिक अधिकारों को लेकर चलाया जा रहा कोई जन-आन्दोलन।

दरअसल समकालीन कहानी का जो इतिहास और स्वरूप है, उसका गहरा संबंध समकालीन समय के यथार्थ से है। यद्यपि इस बात को लेकर बहस हो सकती है कि समकालीन कहानी की शुरुआत कब से मानी जाए। कारण, इसी से समकालीन कहानी का इतिहास भी तय होगा। कुछ लोग इसकी चर्चा '90 के मंडल कमीशन और उसके बाद बाबरी मस्जिद के ध्वंस, आर्थिक उदारीकरण और भूमंडलीकरण से जोड़कर देखते हैं और इसीलिए समकालीन कहानी के इतिहास को 1990 से अब तक मानते हैं। कुछ इसे सन् '75 की इमरजेन्सी के बाद से मानते हैं जिसके समानान्तर कहानीकारों ने एक तरफ जहाँ राजनीतिक सत्ता के भय और आंतक को रचना का विषय बनाया, वहाँ दूसरी तरफ कमलेश्वर के सन् 74 के समानान्तर कहानी आन्दोलन एवं 1982 में दिल्ली में स्थापित 'जनवादी लेखक संघ' की स्थापना के बाद शुरु हुए 'जनवादी कहानी' से जोड़कर देखा है तथा रमेश उपाध्याय की 'देवी सिंह कौन' रमेश बतरा की 'कत्ल की रात', स्वयं प्रकाश की 'सूरज कब निकलेगा', नमिता सिंह की 'काले अन्धेरे की मौत', असगर वजाहत की 'मछलियाँ', उदय प्रकाश की 'टेपचू', अरुण प्रकाश की 'मैया एक्सप्रेस', धीरेन्द्र अस्थाना की 'लोग हाशिये पर', विजयकान्त की 'बलैत माखून भगत', राजेश जोशी की 'सोमवार' जैसी कहानियों का उल्लेख महत्वपूर्ण कहानियों के रूप में किया है।

पर, सही मायने में समकालीन कहानी की ज़मीन 1967 में पश्चिम बंगाल के नक्सलबाड़ी में चारु मजूमदार के नेतृत्व में शुरु हुए हाशिये के किसानों एवं मजदूरों के प्रतिरोध एवं उसके बाद हुए जन-आंदोलनों से तैयार होती है। कारण, 1967 के बाद कहानी में 'नयी कहानी' और उसके बाद चर्चा में आये सचेतन, अकहानी आदि का दौर समाप्त होता है तथा विचार और संवेदना के स्तर पर कहानी समकालीन जिन्दगी में आ रहे बदलावों को लेकर आगे बढ़ जाती है। यह इस दौर में शुरु हुए अन्य जन-आन्दोलनों (जैसे—महाराष्ट्र का दलित पैथर, छात्रों द्वारा राजनीतिक बदलाव के लिए जयप्रकाश के नेतृत्व में किया गया संपूर्ण क्रांति का आन्दोलन, मेधा पाटकर द्वारा आदिवासियों के विस्थापन को लेकर किये जा रहे संघर्ष, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के आर्थिक नीतियों के खिलाफ किसानों का प्रदर्शन आदि) से संवाद करते हुए अपना रास्ता तय करती है। यह इस प्रकार के आंदोलनों का ही प्रभाव था कि किसान, मजदूर, स्त्री, दलित आदिवासी जैसे हाशिये के लोग कहानी के केंद्र में आते हैं और हिंदी के पुराने कहानीकारों में भीष्म साहनी, शैलेश मटियानी, राजी सेठ, काशीनाथ सिंह, शेखर जोशी, दूधनाथ सिंह, रमाकांत, मधुकर सिंह, हृदयेश आदि जैसे रचनाकार क्रमशः 'झूमर', 'अर्द्धांगिनी', 'सदी का सबसे बड़ा आदमी', 'नौरंगी बीमार है', 'माई का शोकगीत', 'कार्लो हब्शी का संदूक', 'हरिजन सेवक' और 'मनु' जैसी कहानियाँ लिखते हैं। इसीलिए समकालीन कहानी की शुरुआत 1967 के बाद से मानी जानी चाहिए तथा इसके पहले चरण को 1967 से 1990 और दूसरे चरण को 1990 से अब तक के रूप में देखा जाना चाहिए। यद्यपि इस प्रकार के अध्ययन कई बार अध्येत्ताओं के लिए चुनौती खड़ी करते हैं, परंतु समकालीन हिन्दी कहानी का जो परिदृश्य है, उसे वृहत्तर सामाजिक संदर्भों से जोड़कर देखने पर, इस प्रकार के अध्ययन रचना के बहाने समय और समाज को समझने में हमारी मदद ही करते हैं। जहाँ 1990 के पूर्व की कहानियों में किसान, मजदूर, स्त्री आदि समाज की प्रधानता है, वहाँ बाद की कहानियों में दलित, आदिवासी, साम्प्रदायिकता, भूमंडलीकरण आदि से जुड़े प्रश्न एक वृहत्तर दुनिया के यथार्थ को हमारे सामने रखते हैं। ऐसी स्थिति में हमारे लिए यह विचार करना जरूरी

है कि समकालीन कहानी की विचारधारा क्या है तथा आलोचकों ने किन कहानियों को ध्यान में रखकर उस पर विचार किया है ? इसी प्रकार, हमारे लिए इस पर विचार करना भी जरूरी है कि समकालीन कहानी की मुख्य प्रवृत्तियाँ क्या हैं तथा उनके केंद्र में कौन-कौन से समाज हैं ? उनके अन्दर परिवर्तन और विकास की प्रक्रियाएँ कैसी हैं जिसे कहानीकारों ने विचार का केंद्र बनाया है।

20.3.2 आलोचना, विचारधारा और प्रमुख कहानियाँ

समकालीन कहानी के आलोचकों में कई महत्वपूर्ण नाम हैं जिनमें विश्वनाथ त्रिपाठी, मधुरेश, विजय मोहन सिंह, गोपाल राय, चंचल चौहान, जानकी प्रसाद शर्मा, परमानंद श्रीवास्तव, प्रभाकर श्रोत्रिय, आनन्द प्रकाश, रामदेव शुक्ला, लक्ष्मण सिंह बिष्ट 'बटरोही', रविभूषण, महेश दर्पण, शंभु गुप्त, खगेन्द्र ठाकुर, अर्चना वर्मा, बलराम, कुमार कृष्ण, सुधीश पचौरी, रोहिणी अग्रवाल, चंद्रेश्वर कर्ण, देवेन्द्र चौबे, प्रियम अंकित, कृष्ण मोहन, अजय वर्मा आदि प्रमुख हैं। इन आलोचकों ने समकालीन कहानी की संरचना, विचारधारा और प्रवृत्तियों पर गंभीरता के साथ विचार किया है। अगर हम संरचना, विचारधारा और प्रवृत्तियों के स्तर पर देखें, तो समकालीन कहानी को मुख्यतः पाँच तरह की स्थितियाँ प्रभावित करती हैं :

1. मार्क्सवाद के प्रभाव में हाशिये अथवा निम्नवर्गीय समाज को लेकर किये जा रहे विचार।
2. साम्प्रदायिकता संबंधी विचार, जैसे – 1947 के देश-विभाजन और 1992 के बाबरी मस्जिद के ध्वंस के बाद उत्पन्न साम्प्रदायिक स्थितियाँ;
3. दलित-विमर्श
4. स्त्रीवाद अथवा स्त्री-विमर्श और
5. आर्थिक उदारीकरण एवं भूमंडलीकरण से संबंधित विचार।

इन पर हम बाद में, अगले खण्ड में विस्तारपूर्वक बातचीत करेंगे। इनके अतिरिक्त जादुई यथार्थवाद और उत्तर आधुनिकतावाद भी समकालीन साहित्य को प्रभावित करने वाली विचारधाराएँ हैं, लेकिन कहानी में इनकी उपस्थिति नगण्य है। उदय प्रकाश की 'टेपचू' एवं पंकज बिष्ट की 'बच्चे गवाह नहीं हो सकते' जैसी कहानियों को लेकर हिन्दी के कुछ आलोचक जरूर जादुई यथार्थवाद की चर्चा करते हैं। जैसे – 'टेपचू' का यह कथन कि "जितने भी लोग टेपचू को जानते हैं वे यह मानते हैं कि टेपचू कभी मरेगा नहीं – साला जिन्ह है।" – जादुई यथार्थवाद की तरफ संकेत करता है। लेकिन, आलोचक चंचल चौहान 'टेपचू' में आये इस प्रसंग को यथार्थ से जोड़कर देखने का प्रस्ताव करते हैं : "यह कहानी सिर्फ इसलिए महत्वपूर्ण नहीं है कि इसमें जादुई यथार्थवाद की टेकनीक अपनाई गई है, बल्कि इसलिए कि इसमें यथार्थ को विकासमान प्रक्रिया के रूप में देखा गया है।" (समकालीन परिभाषा, सं. ऋषिकेश एवं राकेश रेणु, अंक 7-8, जुलाई-दिसम्बर 1991, पृ. 37)

स्पष्टतः यहाँ चंचल चौहान जादुई यथार्थवाद शब्दावली का प्रयोग तो करते हैं, परंतु उनका जोर उससे अधिक समाज के उस वास्तविक 'यथार्थ' पर है जो रचना को महत्वपूर्ण बनाता है।

इसी प्रकार, उत्तर आधुनिकतावाद की भी समकालीन कहानी में उपस्थिति नगण्य है। यद्यपि कहानी की दुनिया में 1967 के नक्सल आन्दोलन के बाद मुख्यधारा की बजाय हाशिये के नायकों की जो उपस्थिति हुई है उसे समझने में उत्तर आधुनिकता के एक प्रमुख विचारक जाक देरिदा के 'विखण्डनवाद' (De-construction) की धारणा मदद करती है जिसमें केंद्र और हाशिये का उल्लेख है। परंतु, वैचारिक स्तर पर इसकी उस अर्थ में कहानियों में उपस्थिति नहीं है। दलित कहानी के प्रसंग में इस पर बात हो सकती है जहाँ दलित कहानीकारों ने समाज के प्रभावशाली लोगों के बजाय सामाजिक व्यवस्था में अस्पृश्य समझे जाने वाले दलित लोगों को कहानी का ताकतवर नायक बनाया है; परंतु यहाँ भी वर्ण और जाति का सवाल प्रमुख है। आलोचक सुधीश पचौरी जैसे कुछ लोग उत्तर आधुनिकता और देरिदा के विखण्डनवाद को मार्क्सवाद के समानांतर रखते हैं और सन् 1970 के बाद के समय को उत्तर आधुनिक समय के रूप में देखते हैं। परंतु, हिन्दी के मशहूर कवि और साहित्यिक पत्रिका 'कृति ओर' के सम्पादक विजेन्द्र 'समकालीन' (Contemporary) शब्द को 'उत्तर आधुनिक' (Post modern) शब्द के समकक्ष रखने की बात करते हुए लिखते हैं कि "समकालीन होने के लिए ऐतिहासिक द्वंद्वात्मक भौतिकवाद, वर्ग-संघर्ष और सर्वहारा की अजेय भूमिका को मानना पहली शर्त है, क्योंकि इसके बिना हम अपने समय के समाज की विकसित होने की गति को नहीं पहचान पायेंगे।" (कृति ओर, अंक 40, अप्रैल-जून 2006)

अर्थात्, सन् '70 के बाद के समय को 'उत्तर आधुनिक' कहने की जगह 'समकालीन' कहना ज्यादा ठीक है। कारण, उत्तर आधुनिकता के विचारक इतिहास को नकारने की प्रक्रिया में पुराने पूंजीवाद और वर्ग संघर्ष को एक साथ नकारते हैं। इसके एक प्रमुख विचारक फ्रेडरिक जेमसन ने चर्चित पुस्तक 'द पोस्टमार्डनिज्म : द कल्चरल लॉजिक आफ लेट कैपिटलिज्म' में इस बात की तरफ संकेत किया है कि जब समाज उत्तर आधुनिक युग और संस्कृति उत्तर आधुनिक समय में प्रवेश करती है, तब ज्ञान की अवस्था बदल जाती है। इस अवस्था की शुरुआत वह सन् '50 के दशक के अन्त से जारी मानते हैं। आलोचक सुधीश पचौरी उन्हीं जैसे विचारकों के आधार पर सन् '60 के बाद के समय को उत्तर आधुनिक समय के रूप में देखते हैं तथा इस बात की तरफ संकेत करते हैं कि भारतीय समाज उत्तर आधुनिक स्थितियों में दाखिल हो चुका है। बहरहाल, समकालीन कहानी पर विचार करते हुए कहा जा सकता है कि विचारधारा के स्तर पर हिन्दी साहित्य में इसकी उपस्थिति तो है, परन्तु रचना के स्तर पर पंकज बिष्ट की 'बच्चे गवाह नहीं हो सकते', प्रेम कुमार मणि की 'खोज', राजकुमार राकेश की 'अदृश्य अवतार और भटकती आत्माएँ' आदि जैसी कहानियों में उत्तर आधुनिकता के प्रभाव को देखा जा सकता है। पर, इतना तो तय है कि वैचारिक स्तर पर समकालीन हिन्दी कहानी अत्यंत समृद्ध है। कहानीकारों ने परिवर्तन और विकास की प्रक्रियाओं को अपनी कहानियों का विषय बनाया है तथा उसे समकालीन समाज से जोड़ते हुए कहानी की दुनिया रची है। यहाँ उन कहानियों और कहानीकारों पर बात करना जरूरी है जो इस दौर को समझने में मदद करती है। आइए, हम इन पर संक्षेप में विचार करें।

समकालीन हिन्दी कहानी में दो तरह के कहानीकार हैं जो अपनी कहानियों के माध्यम से कहानी की दुनिया का विस्तार करते हैं – एक, वे कहानीकार, जिनका विकास नई कहानी और सचेतन एवं अकहानी के दौर में हुआ तथा जिनका लेखन सन् '70 के बाद भी जारी रहा है और दो, वे कहानीकार जिनकी कहानी की दुनिया में उपस्थिति आठवें दशक के समानान्तर और नौवें दशक के प्रारम्भिक वर्षों में हुई। एक तीसरी पीढ़ी भी है जिसकी पहचान कहानी के परिदृश्य में पिछले एक-डेढ़ दशकों में हुई है। यद्यपि, इस

प्रकार कहानी अथवा कहानीकारों की सूची बनाना एक कठिन कार्य है, परन्तु समकालीन कहानी को समझने के लिए कहानी के आलोचकों ने जिन कहानियों का बार-बार उल्लेख किया है; उन पर बात तो की ही जा सकती है। इसी प्रकार कुछ अच्छी कहानियाँ भी हैं, पर उनकी चर्चा न तो आलोचकों ने की है और न ही कहानी पत्रिका के सम्पादकों ने उनको उछाला। उदाहरण के लिए, शमोएल अहमद की कहानी 'सिंघार दान', अंजनारंजन दाग की कहानी 'मुआवजा', सुरेश कांटक की 'एक बनिहार का आत्मनिवेदन', अवधेश प्रीत की 'नृशंस', प्रेम कुमार मणि की 'खोज', शंकर की 'बतियाँ', रघुनंदन त्रिवेदी की 'स्मृतियों में पिता', चंद्रकिशोर जायसवाल की 'नकबेसर कागा ले भागा', सूरज प्रकाश की 'आजादी की स्वर्ण जयंती', प्रेमपाल शर्मा की 'पिज्जा और छेदीलाल', प्रियंवद् की 'बोधिवृक्ष', सुनील सिंह की 'शिकारगाह', संजय सहाय की 'मध्यान्तर', मनोज रूपड़ा की 'दफन', पारितोष चक्रवर्ती की 'सड़क नंबर तीस', विजय की 'कसाई', ओमा शर्मा की 'भविष्यद्रष्टा', योगेंद्र आहूजा की 'गलत', ज्ञान प्रकाश विवेक की 'पिताजी चुप हैं', रतन वर्मा की 'नेटुआ', ऋता शुक्ल की 'क्रौंचवध', अनंत कुमार सिंह की 'अपने लोग' आदि ऐसी ही कहानियाँ हैं जो कथानक और शैली की दृष्टि से बेजोड़ हैं; परन्तु, ये कहानियाँ आलोचकों अथवा विचारकों की चर्चा का हिस्सा नहीं बन पायीं। ऐसी और भी अनेक कहानियाँ हो सकती हैं जिनकी चर्चा नहीं होती है।

समकालीन कहानी में पूर्व के कहानी आन्दोलन और दौर से जुड़े जिन कहानीकारों ने उल्लेखनीय कहानियाँ लिखी हैं, उनमें भीष्म साहनी की 'झूमर', शैलेश मटियानी की 'अर्द्धांगिनी', रमाकान्त की 'कार्लो हब्सी का संदूक', दूधनाथ सिंह की 'माई का शोकगीत', धर्मक्षेत्रे कुरक्षेत्रे, हृदयेश की 'मनु', सतीश जमाली की 'ठाकुर संवाद', रामदरश मिश्र की 'शेषयात्रा', राजी सेठ की 'यही तक', ममता कालिया की 'बाथरूम', मुद्राराक्षस की 'मुठभेड़', शेखर जोशी की 'नौरंगी बीमार है', कृष्णा सोबती की 'ऐ लड़की', काशीनाथ सिंह की 'एक लुप्त होती हुई नस्ल', मंजूर एहतेशाम की 'रमजान में मौत', इब्राहिम शरीफ की 'जमीन का आखिरी टुकड़ा', स्वदेश दीपक की 'कोर्ट मार्शल', मोहन थपलियाल की 'एक वक्त की रोटी', गिरीराज किशोर की 'आन्द्रे की प्रेमिका', विद्यासागर नौटियाल की 'पीपल के पत्ते', गंगा प्रसाद विमल की 'नुक्कड़ नाटक', गोविन्द मिश्र की 'खुदा के खिलाफ', जगदम्बा प्रसाद दीक्षित की 'गंदगी और जिंदगी', अमरकान्त की 'श्वान कथा', मंजुल भगत की 'मलबा', अमरीक सिंह दीप की 'खाड़कू', नारायण सिंह की 'चारा', सुमति अय्यर की 'विरल राग', निर्मल वर्मा की 'सूखा', रमेश बतरा की 'जंगली जुगराफिया', सत्येन कुमार की 'पनाह', सुधा अरोड़ा की 'बेजान शब्द', मुदूला गर्ग की 'तुक', चंद्रकान्ता की 'आवाज', विजेंद्र अनिल की 'विस्फोट', नमिता सिंह की 'मिशन जंगल और गिनीपिग' आदि प्रमुख हैं। इन कहानीकारों ने समकालीन समय के यथार्थ और उस यथार्थ के धरातल पर खड़े दबावों, सवालों और चुनौतियों को गंभीरता के साथ कहानियों में उठाया है।

इसी प्रकार आठवें दशक और उसके बाद जिन नये कहानीकारों ने समकालीन हिन्दी कहानी में पहचान बनाई, उनमें स्वयं प्रकाश 'पार्टीशन', चित्रा मुद्गल 'प्रेत योनि', अर्चना वर्मा 'राजपाट', रमेश उपाध्याय 'डेल्टा', मृणाल पाण्डेय 'लड़कियाँ', मधुकर सिंह 'हरिजन सेवक', मिथिलेश्वर 'बाबुजी', नासिरा शर्मा की 'बिलाव', संजीव 'अपराध', पंकज बिष्ट 'बच्चे गवाह नहीं हो सकते', विष्णु नागर 'पैट', महेश कटारे 'मुर्दा स्थगित', शंशाक 'दर-ब-दर', उदय प्रकाश 'टेपचू', असगर वजाहत 'स्वीमिंग पूल', अरूण प्रकाश 'मैया एक्सप्रेस', शिवमूर्ति 'तिरिया चरित्तर', मैत्रेयी पुष्पा 'गोमा हँसती है', हृषिकेश सुलभ 'बसंत के हत्यारे', प्रेम कुमार मणि 'खोज', कर्मन्दु शिशिर 'पानी', हरि भटनागर 'सगीर और

उसकी बस्ती के लोग', ओम प्रकाश वाल्मीकि 'सलाम', श्रवण कुमार गोस्वामी 'यही एक रास्ता', नवीन जोशी 'दंगा', बनाफर चंद्र 'हित', प्रवण कुमार बंधोपाध्याय 'बारूद की सृष्टि कथा', मदन मोहन 'बच्चे बड़े हो रहे हैं', विजयकान्त 'मरीधार', संजय 'कामरेड का कोट', अखिलेश 'चिट्ठी', ओमप्रकाश वाल्मीकि 'सलाम', गीतांजलि श्री 'अनुगूँज', अवधेश प्रीत 'नृशंस', सुभाष शर्मा 'भूख', संजय खाती 'पिंटी का साबुन', उर्मिला शिरिष 'चीख', सुशीला टाकभौरे 'सीलिया', जयप्रकाश कर्दम 'नो बार', राकेश वत्स 'काले पेड़' अनन्त कुमार सिंह 'मेनलीड', जयनन्दन 'विश्व बाजार का ऊँट', मुर्शरफ आलम जौकी 'गुलाम बख्श', एस. आर. हरनोट की 'जीन काठी', प्रियदर्शन 'उसके हिस्से का जादू' आदि कहानियों के जरिये एक सार्थक हस्तक्षेप करते हैं। इन कहानीकारों ने समकालीन जिंदगी में समकालीन राजनीतिक, सामाजिक आर्थिक, साम्प्रदायिक आदि स्थितियों और विचारों के कारण आ रहे परिवर्तन और विकास की प्रक्रियाओं को गम्भीरता के साथ चित्रित किया है। समय का दबाव, तनाव, भय और अंतर्द्वंद्व की मार्मिक उपस्थिति इन कहानियों में देखी जा सकती है।

दरअसल 1990 ई. के बाद भारत में आर्थिक उदारीकरण और भूमंडलीकरण का जो दौर शुरू हुआ, उसने भारतीय व्यवस्था को जड़ से हिलाकर रख दिया। इसे अस्थिर करने और विस्तार देने में मंडल कमीशन और बाबरी मस्जिद के ध्वंस की घटना ने निर्णयकारी भूमिका निभाई। यद्यपि 1980 के बाद के कहानीकारों ने भी परिवर्तन और विकास की इन अवस्थाओं को लेकर यादगार कहानियाँ लिखी। खासकर, उदय प्रकाश ने सांप्रदायिकता को लेकर 'और अंत में प्रार्थना', अरुण प्रकाश ने पंजाब के आतंकवाद के साये में काम कर रहे 'बिहारी मजदूरों को लेकर 'भैया एक्सप्रेस', मो. आरिफ ने आतंक के साये में जी रहे आम लोगों को लेकर 'तार', संजय खाती ने उपभोक्तावाद को लेकर 'पिंटी का साबुन', मनोज रूपड़ा ने विकास को लेकर 'बूड़ान', अखिलेश ने उपभोक्तावादी बाजार व्यवस्था में मनुष्य की जिन्दगी को लेकर 'जलडमरूमध्य', प्रेम कुमार मणि ने नई आर्थिक व्यवस्था में गाँव को लेकर 'खोज', ओमा शर्मा ने भूमंडलीकरण को लेकर 'भविष्यद्रष्टा', कैलाश वनवासी ने ग्रामीण जीवन के यथार्थ और उसमें सीमांत किसानों की जिन्दगी को लेकर 'बाजार में रामधन', अवधेश प्रीत ने नक्सलवाद की स्थितियों को लेकर 'नृशंस', जैसी यादगार कहानियाँ लिखी हैं।

दरअसल समकालीन कहानी का यह दौर कथा की भाषा, शिल्प, कहने के समय, कथा के चुनने के साथ-साथ उसे और अधिक यथार्थ बनाने का दौर है। इस दौर के कहानीकारों ने समकालीन जीवन ओर उसमें सामने घटित हो रहे इतिहास एवं निर्मित हो रही घटनाओं को वृहत्तर समाज के साथ जोड़ते हुए उसका सामाजिक स्तर पर विस्तार दिया है। इसीलिए इस दौर की कहानियाँ, सामाजिक समुदायों को अपनी कहानियाँ लगती हैं चाहे वह दलित हो या स्त्री; कोई आम आदमी हो या मध्यवर्गीय जिंदगी की गहमा-गहमी में खोया गतिशील जन — इधर के कहानीकारों ने अपने अनुभवों और विचारों के साथ उसे जोड़कर इतना अधिक संजीदा बना दिया है कि एक स्तर पर ये कहानियाँ मुक्तिधर्मी चेतना का आख्यान भी लगती हैं। यही कारण है कि ये कहानियाँ आज के लोगों को समाज और जीवन के बारे में सोचने की प्रेरणा देती हैं। इन कहानियों को पढ़ते हुए कई बार यह भी लगता है कि सर्वहारा मनुष्य जब टूटता है तो उसका भाग्य और उसके असहाय होने का यथार्थ-बोध, भय एवं सबकुछ टूट जाने की दशा में अजनबी होने का निरीह एहसास; फिर भी इस आम आदमी की रीढ़ ऐसी कि झुकने के बाद भी बार-बार तन जाती है — जैसे, कहीं कुछ है, जो इस दौर की कहानियों को एक नया तेवर एवं मिजाज देकर उसे महत्वपूर्ण बना देता है। इस दौर की

कहानियों में मौजूद समकालीन समय की इस चेतना को निम्नलिखित पंक्तियों में देखा जा सकता है : 'उसे जोर से कंपकंपी आई। रोम रोम खरखरा उठा। 'नहीं'! वह धीरे से बुदबुदाया। आगे की सीट का हैंडिल उसने मजबूती से पकड़ लिया। गुर्राती बस आगे बढ़ती गई। आगे बढ़ना ही था। भैया एक्सप्रेस का सफर तमाम नहीं हुआ था।' (भैया एक्सप्रेस : अरुण एक्सप्रेस, श्रेष्ठ हिंदी कहानियाँ; सं. लीलाधर मंडलोई, पीपुल्स पब्लिशिंग हाऊस (प्रा.) लि. दिल्ली, 2010)

स्पष्टतः सर्वहारा के विजय का यह वही एहसास है जिसे समकालीन कहानीकारों ने रचा है। इस प्रकार के नायकत्व और विजय का भाव पूर्व की कहानियों में दिखलाई नहीं पड़ता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि हिंदी कहानी का यह वही दौर है, जहाँ रचना में कहानीकार के अनुभव और विचार की पक्षधरता साफ-साफ दिखलाई पड़ती है। कहीं कोई द्वंद्व या संदेह नहीं है! आज का समाज वैचारिक और सांस्कृतिक स्तर पर कहाँ और किसके साथ खड़ा है, वह समकालीन कहानियों को पढ़कर साफ कहा जा सकता है। चाहे वह कृषक-मजदूर समाज का सवाल हो अथवा दलित स्त्री का, साम्प्रदायिकता का सवाल हो अथवा भूमण्डलीकरण एवं आर्थिक उदारीकरण का — समकालीन कहानीकारों ने समाज के इन सवालों के साथ सीधी मुठभेड़ की है। उसे रचा है और सन् 70 के बाद के वृहत्तर समाज के सार्वजनिक चरित्रों को कहानी की दुनिया में हिस्सा बनाया है। सवाल है, ये समाज और चरित्र कौन-से है ? उनकी मुख्य समस्याएँ क्या है ? इतिहास, राजनीति संस्कृति और व्यवस्था के किन सवालों से ये जूझ रहे हैं ? शेष समाज से ये क्या चाहते हैं ? उनकी बनावट कैसी है ? उनका मन कैसा है ? आज के इस जटिल युग में वे कहाँ खड़े हैं ? इन सवालों पर हम आगे विचार करेंगे।

20.4 समकालीन हिन्दी कहानी : प्रवृत्तियाँ, समाज और प्रक्रियाएँ

20.4.1 लोकतंत्रीय व्यवस्था में आम आदमी और मध्यवर्ग

यद्यपि साहित्य अथवा कहानी में जब भी समकालीनता की चर्चा होती है, उसे आमतौर पर 'तत्कालीन' अथवा एक ही समय का मानकर स्वीकार कर लिया जाता है तथा इतिहास के साथ उसका कोई संबंध नहीं माना जाता है। जबकि ऐसा नहीं है। 1967 ई. में प्रकाशित पुस्तक 'समकालीन कहानी का रचनाविधान' में गंगा प्रसाद विमल ने मुख्यतः सन् 60 के बाद की कहानी के रचना विधान, समीक्षा, अकहानी एवं उसके बहाने उस दौर की कहानी के केंद्र में मौजूद जीवन के समग्र अस्वीकार तथा विद्रोह की मुख्य चेतना पर विचार करते हुए लिखा है कि "वे सब रचनाकार जो कम-से-कम रोमांटिक भाव-बोध से तथा परंपरागत स्थिति से अलग हैं, और कथा रचना में अपने समग्र नयेपन का आग्रह करते हैं — समकालीन रचना के रचनाकार हैं।" (सुषमा पुस्तकालय, दिल्ली, पृ. 17) और यह नयापन है— जीवन के यथार्थ का तीखापन और यथार्थ स्थिति का ऐतिहासिक नजरिये से आकलन। यह चेतना विश्वनाथ त्रिपाठी के कहानी संबंधी मूल्यांकनों में देखी जा सकती है। उन्होंने 'कुछ कहानियाँ कुछ विचार' में प्रकाशित लेख 'समकालीन कहानी : कुछ विचार' में नई कहानी के कहानीकारों में फणीश्वरनाथ रेणु, निर्मल वर्मा, भीष्म साहनी, अमरकान्त, मोहन राकेश, कमलेश्वर, राजेंद्र यादव आदि पर विचार करते हुए 'ऐतिहासिकता' शब्द की चर्चा की है तथा लिखा है कि "नई कहानी की शक्ति, ऐतिहासिक होने, देशकाल से संबद्ध होने और मानवीय रिश्तों की अंतस्संबंधता की पड़ताल करने में है।" अर्थात् कहानी में लेखक का सिर्फ 'अनुभव' या 'शिल्प' महत्वपूर्ण नहीं होता है, बल्कि विचारों के माध्यम से निर्मित 'इतिहास' भी महत्वपूर्ण होता है। कारण यह इतिहास ही है, जो कहानी को 'व्यक्ति' के साथ-साथ समाज और उसकी

सामाजिकता की रक्षा के लिये चलाये जा रहे संघर्षों से उसे जोड़ता है तथा उसे वृहत्तर समाज का हिस्सा बनाता है। समकालीन कहानी की खास विशेषता यही है कि उसमें समकालीन समय के इतिहास और विचारों का दस्तावेजीकरण दिखलाई पड़ता है। कहानीकार या उनके पात्र निस्सहाय नहीं दिखलाई पड़ते हैं। स्थितियों से भागकर कोई रोमांटिक यथार्थ नहीं गढ़ते हैं, बल्कि मौजूदा विसंगतियों एवं असमानता से सीधा टकराते हैं; मुक्ति के रास्ते बनाते हैं। कहानीकार या उनके पात्र निस्सहाय नहीं दिखलाई पड़ते हैं। स्थितियों से भागकर कोई रोमांटिक यथार्थ नहीं गढ़ते हैं, बल्कि मौजूदा विसंगतियों एवं असमानता से सीधा टकराते हैं। मुक्ति के रास्ते बनाते हैं।

वस्तुतः समकालीन कहानी, नई कहानी से इसीलिए अलग है कि जहाँ नई कहानी में अकेलापन, प्रेम, मोह-संबंधों के टूटन आदि की पहचान की चिंता है; वहाँ समकालीन कहानी में सामाजिक समुदायों एवं समूहों द्वारा अपने वजूद के लिए किए जा रहे संघर्षों को देखने एवं उसे ऐतिहासिक दृष्टि से व्याख्यायित करने की चेतना दिखलाई पड़ती है। इसीलिए, समकालीन कहानी में व्यक्ति और समाज के साथ उसके संबंधों की बजाय, सामाजिक जीवन की मुख्यधारा के अंदर और बाहर अस्तित्व रक्षा के लिए किए जा रहे संघर्ष की चेतना अधिक दिखलाई पड़ती है। दूसरे शब्दों में, समकालीन कहानी में यथार्थ में निर्मित में जितने बड़े पैमाने पर हाशिये के समाज की भूमिका दिखलाई पड़ती है, उतना अन्य दौर की कहानियों में नहीं। यहाँ परिवर्तन और विकास की प्रक्रियाओं से गुजरते हुए शेष समाज के साथ ही मुख्य धारा के अंदर और बाहर हाशिये की जिंदगी व्यतीत कर रहे सामाजिक समूहों की चेतना को साफ-साफ देखा जा सकता है। खास बात यह है कि इन परिवर्तन और विकास की ऐतिहासिक प्रक्रियाओं के तहत समकालीन हिंदी कहानी में निर्मित उन समाजों जैसे स्त्री, दलित आदिवासी आदि और उनकी चिंताओं की अनुगूँजों को इतिहास से संवाद करते हुए साफ-साफ देखा जा सकता है। जो इस दौर की कहानियों में है तथा जिसमें कहानीकारों ने कथावस्तु एवं उनमें चित्रित समाज को पारंपरिक विचारों की बजाय 'आधुनिक विचारों' से जोड़ने पर अधिक बल दिया है। कारण, इससे उनकी 'मुक्ति' का रास्ता आसान होता है और समाज में उनकी भी एक लोकतांत्रिक हैसियत बनती है। हंगरी के प्रसिद्ध विचारक जार्ज लुकाच ने चर्चित पुस्तक 'दि हिस्टोरिकल नावेल' (The Historical Navel) में लोकतांत्रिक मानववाद की चर्चा करते हुए इस बात का उल्लेख किया है कि किसी लेखक की रचना (की प्रवृत्तियों) को समझने के लिए यह देखना भी जरूरी होता है कि "उसकी उत्पत्ति किन अवस्थाओं में हुई तथा वह हमें किस दिशा में ले जा रही है।" (इतिहास दृष्टि और ऐतिहासिक उपन्यास : जार्ज लुकाच, हिंदी अनुवाद : कर्ण सिंह चौहान, ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, 2009, पृ. 270)। स्पष्टतः समकालीन हिन्दी कहानी : में ऐसा दिखलाई पड़ता है। इस दौर की कहानियों को पढ़ते हुए उसमें दर्ज सामाजिक समुदायों और समूहों की उत्पत्ति की अवस्थाओं को सहज ही रेखांकित किया जा सकता है। यद्यपि इस दौर की कहानियों में भी शहर और गाँव दोनों हैं।, खासकर संजीव, महेश कटारे, शिवमूर्ति, अरुण प्रकाश आदि की कहानियों में भी 'नई कहानी' की तरह गाँव है। परन्तु ये गाँव समकालीन आंतक (जैसे-आतंकवाद) और भय (जैसे-विराम की प्रक्रिया में नष्ट होते पुराने गाँव) से टकरा रहे हैं। यहाँ प्रकृति, घटनाओं और चरित्रों में बिंब तथा संकेत की जगह वर्ण एवं वर्ग-केंद्रित संघर्ष अधिक है। इसलिए इन पर बातचीत की जा सकती है और न ही नई कहानी में अभिव्यक्त मानवीय अंतःसंबंध, प्रेम, अकेलापन आदि जैसी प्रवृत्तियों को बिंबों और संकेतों के बहाने चर्चा का विषय बनाया जा सकता है।

वस्तुतः समकालीन कहानी में आम आदमी, सामाजिक समुदायों और समूहों की उत्पत्ति की जो अवस्थायें हैं, वे इस दौर की कहानियों की प्रवृत्ति पर कुछ अलग ढंग से विचार

करने के लिए दबाव डालती है। चाहे वह स्त्री-समाज हो या दलित, आदिवासी हो अथवा हाशिये के अन्य समाज! समकालीन कहानीकारों ने इन समाजों पर कहानियाँ लिखने के बहाने समकालीन समय और इतिहास के अनगिनत सवालियों से टकराने का साहस किया है तथा पूँजीवादी सभ्यता में 'वस्तु' बनते जा रहे 'मनुष्य' की विडंबनापूर्ण जिंदगी के यथार्थ को रचते हुए लोकतंत्रीय व्यवस्था में उनकी मुक्ति के रास्ते तलाशे हैं।

दरअसल भारतीय समाज की जो संरचना और विकास की प्रक्रिया है, उसमें इतनी तरह की असमानताएँ एवं विसंगतियाँ हैं कि लोग, समूह अथवा समुदाय उनसे टकराने और संघर्ष करने के लिए विवश है चाहे वह समाज का कोई भी तबका हो। सिर्फ दलित और स्त्री ही नहीं, अपितु अन्य सामाजिक समूह भी साम्प्रदायिक वैमनस्य अथवा आर्थिक उदारीकरण एवं भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया में हाशिये पर जाने को बाध्य है। कई बार यह विवशता सार्वजनिक चरित्रों के अंदर निर्मित हो रहे 'भय' में तब्दील हो जाती है; परन्तु कई बार जब वही चरित्र-आन्दोलनों अथवा सामाजिक दायित्वों से जुड़ता है तब उसके अन्दर एक विचित्र प्रकार के 'साहस' एवं 'उत्साह' का संचार होता है। यह साहस और उत्साह एक भिन्न प्रकार की 'चेतना' का विकास करती है और उसके जीवन को एक ऐसी स्थिति में लाकर पटक देती है कि वह दुनिया के किसी भी प्रकार के शोषण, दमन और भय के खिलाफ संघर्ष के लिए अपने को तैयार कर लेता है। अरुण प्रकाश की 'भैया एक्सप्रेस' 'संजीव की 'पांव तले की दूब', विजयकान्त के 'मरीधार' में इसे देखा जा सकता है। यह यथार्थवाद की बड़ी विशेषताएँ हैं जिसकी चर्चा मार्क्सवादी विचारकों ने 'राजनीतिक दृष्टिकोण' के रूप में किया है। दृष्टिकोण 'संघर्षरत' लोगो को समाज की वास्तविकता और सच्चाई से परिचित कराकर उन्हें गतिशील बनाता है। समकालीन कहानी के अन्दर निर्मित उन विशेषताओं को उनकी प्रवृत्तियों पर विचार करते हुए पहचाना जा सकता है।

इसी प्रकार इस धारा के दूसरे कहानीकार वे हैं जिनका उदय सन् 70 के बाद कहानी में हुआ तथा जिन्होंने कहानी के केंद्र में मध्यवर्ग के समानांतर आम आदमी की जिंदगी और उसके सवालियों को रचना का विषय बनाया। यह आम आदमी एक तरफ जहाँ व्यवस्था की असमानता का शिकार था, वहीं दूसरी तरफ जन समूहों के संघर्ष से जुड़ते हुए जीवन के छोटे-छोटे सवालियों से टकरा रहा था। उसके सामने एक विराट संसार भी कोने में असमर्थ महसूस कर रहा था। पर उसे समकालीन आन्दोलनों एवं विचारों से ताकत मिली। इस धारा के कहानीकारों में स्वयं प्रकाश, पंकज बिष्ट, मृणाल पाण्डेय, संजीव, चित्रा मुद्गल, नासिरा शर्मा, उदय प्रकाश, मंजूर एहतेशाम, अरुण प्रकाश, अब्दुल बिस्मिल्लाह, रमेश उपाध्याय, प्रेम कुमार मणि, कमल कुमार, धीरेंद्र अस्थाना, विभांशु दिव्याल, हरियश राम, महेश दर्पण, कर्मन्दु शिशिर, अखिलेश, देवेन्द्र सुभाष शाह आदि प्रमुख हैं। जिन्होंने मध्यवर्गीय जिंदगी और उसके समानांतर जीवन की समस्याओं से जूझ रहे आम आदमी को मजबूत इरादों के साथ कहानियों में चित्रित किया। उदाहरण के लिए भीष्म साहनी ने 'झूमर', स्वयं प्रकाश ने 'बलि', ममता कालिया ने 'बोलनेवाली औरत', विष्णुनागर ने 'पेंट', उदय प्रकाश ने 'पालगोमरा का स्कूटर', चित्रा मुद्गल ने 'ब्लेड', अखिलेश ने 'बायोडाटा', देवेन्द्र ने 'क्षमा करो हे वत्स' आदि कहानियों में समकालीन समाज में मध्यवर्गीय जिंदगी की विडंबनाओं, असहाय स्थितियों, असंतोष एवं 'भय' के साथ ही असहय वातावरण में जी रहे आम आदमी के मुश्किल भरे जीवन संघर्ष को देखा जा सकता है। खास बात है कि इस दौर के नायकों में निर्णय लेने की क्षमता पुरानी व्यवस्था से मुक्ति की बेचैनी और जब 'झूमर' (भीष्म साहनी) का अर्जुनदास यह कहता है कि 'मैं क्या समझाऊंगा' कभी-कभी अपने अभावों से जूझते हुए पात्रों की

स्थितियों—दायित्वों से निरपेक्ष हो जाने की विडंबना को इस धारा के कहानीकारों ने मार्मिकता के साथ चित्रित किया है। मैं तो बाहर का आदमी हूँ, मैं तुम्हारी परिस्थितियों को नहीं जानता हूँ।” (समकालीन परिभाषा, पृ. 176) तो लगता है कि भीष्म साहनी की इस कहानी में जीवन की टकराहट का कोरा आदर्शवादी रूप निर्मित हो रहा है; परन्तु अन्तिम अंश “मैं तुम्हारी परिस्थितियों को नहीं जानता हूँ।” — साफ कर देता है कि जीवन में जो कुछ करना है, उसके बारे में निर्णय खुद लेना जरूरी है। इसी प्रकार, उदय प्रकाश ने ‘पालगोमरा का स्कूटर’ और अखिलेश ने ‘बायोडाटा’ कहानी में छोटी-छोटी जरूरतों की पूर्ति के लिए संघर्षरत एवं स्थितियों के कारण धीरे-धीरे परिवार और समाज की निगाह में अप्रासंगिक होते जा रहे मनुष्य की विडंबनापूर्ण यथार्थ का मार्मिक चित्रण किया है। यद्यपि कहानी में कई बार ऐसी निर्मितियाँ इस बात की तरफ भी संकेत करती हैं कि क्या लेखक या उसके पात्र आदमी के अभावों के संदर्भ में इस हद तक अमानवीय हो सकते हैं; जैसा कि ‘पालगोमरा का स्कूटर’ में कथाकार कवि रामगोपाल सक्सेना के प्रति दिखलाता है और ‘बायोडाटा’ में कहानी का नायक राजदेव अपनी पत्नी के प्रति ? ये दोनों पात्र अभावों में जी रहे हैं और अपनी छोटी-छोटी इच्छाओं की पूर्ति के लिए तरह-तरह से प्रयास कर रहे हैं कि अब तो उनकी दशा ठीक हो जाए; पर सच तो यह है कि उनकी हालत दिन-प्रतिदिन बिगड़ती जा रही है और कुछ न कर पाने की स्थिति में ‘बायोडाटा’ के राजदेव जैसे पात्र और अधिक अमानवीय होने पर मजबूर है। क्या यह समकालीन समय का ‘दबाव’ है अथवा उत्तर आधुनिक समाज का यथार्थ जहाँ ‘अमानवीय’ होना मनुष्य की नियति बनता जा रहा है ? पर, क्या हर जगह ऐसी ही स्थिति है ? क्या स्थितियाँ इतनी भयावह हैं कि समकालीन समय में मनुष्य अमानवीय होने के लिए विवश है ?

20.4.2 कृषक—मजदूर समाज

समकालीन हिन्दी कहानी की एक बड़ी विशेषता इस आधुनिक समाज में गाँवों और शहरों में मुख्यधारा के अंदर और बाहर बेहतर जीवन के लिए संघर्षरत किसानों और मजदूरों की जिंदगी के यथार्थ का चित्रण है। खासकर, 1967 के नक्सलबाड़ी में हुए संघर्ष और 1990 के बाद भारत में शुरू हुए आर्थिक उदारीकरण एवं भूमण्डलीकरण के कारण किसानों एवं मजदूरों की जिंदगी पर गहरा असर पड़ा और हिंदी में विजेंद्र अनिल ने ‘विस्फोट’ विजयकान्त ने ‘बीच का समर’, ‘मरीधार’, सुरेश कांटक ने ‘एक बनिहार का आत्मनिवेदन’, मधुकर सिंह ने ‘मेरे गाँव के लोग’ अंजना रजन दाग ने ‘मुआवजा’, मदन मोहन ने ‘बच्चे बड़े हो रहे हैं’, मिथिलेश्वर ‘मेघना का निर्णय’, संजीव ने ‘तिरबेनी का तड़बन्ना’, रामस्वरूप अणखी ने ‘जोहड़ बस्ती’, हृदयेश ने ‘मजदूर’, मेहनरुन्निसा परवेज ने ‘आतंक भरा सुख’, से. रा. यात्री ने ‘अंधेरे की सैलाब’, विजेंद्र भाटिया ने ‘शहादतनामा’, शिवमूर्ति ने ‘तिरिया चरितर, हृषिकेश सुलभ ने ‘पथरकट’, उदय प्रकाश ने ‘टेपचू’, हरी भटनागर ने ‘घर कहाँ है’, सृजय ने ‘कामरेड का कोट’, बलराम ने ‘कामरेड का सपना’, प्रेमपाल शर्मा ने ‘सूबेदार’, विक्रम जनबंधु की ‘प्रहरी’, अवजेश प्रीत की ‘नृशंस’ आदि जैसे कहानीकारों ने हाशिये के किसानों और मजदूरों की कहानियाँ लिखी। उनके विचारों को महत्व दिया। इन कहानीकारों में विजेंद्र अनिल, संजीव विजयकान्त, मधुकर सिंह, सुरेश कांटक, मदन मोहन सृजय, अवधेश प्रीत आदि ने जहाँ वामपंथी आन्दोलनों से प्रभावित किसानों मजदूरों के कृषि-संबंधी संघर्ष एवं उस पर नक्सलवाद जैसे आन्दोलन के पड़े प्रभाव को लेकर वैचारिक कहानियाँ लिखी; वहाँ हृदयेश, हरि भटनागर, हृषिकेश सुलभ, अरुण प्रकाश, शिवमूर्ति, उदय प्रकाश, रमेश उपाध्याय, जितेंद्र भाटिया आदि ने मजदूरों की जिंदगी के छोटे-छोटे सुख और बड़े-बड़े दुःखों को रचना का विषय बनाया। इन

कहानियों में किसानों और मजदूरों की भूख, ऋणग्रस्तता, सामंती समाज द्वारा शोषण—दमन, जैसी समस्याओं को केंद्र में रखकर कहानीकारों ने कृषक—मजदूर समाज द्वारा किये जा रहे प्रतिरोध और संघर्ष को उनके जिंदगी के यथार्थ के रूप में चित्रित किया। उदाहरण के लिए जब सृंजय के 'कामरेड का कोट' का नायक कहता है कि 'बिना हथियार उठाये अब हमारा बचना मुश्किल है।' (कामरेड का कोट, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1993, पृ. 134), तब साफ पता चलता है कि गाँवों में मौजूद सामंती व्यवस्था के कारण हाशिये हाशिये के किसानों और मजदूरों की स्थिति कितनी खराब है और व्यवस्था के स्तर पर उनकी रक्षा करने वाला कोई नहीं है न पुलिस न कोर्ट—कचहरी! और कई बार पुलिस की भूमिका ऐसी कि इनकी रक्षा में उठ खड़े लोगों के साथ जो अमानवीय व्यवहार करती है, वह आधुनिक लोकतंत्र के नाम पर एक काले धब्बे की तरह दीखता है। संजीव की कहानी 'अपराध' में नक्सली होने के आरोप में जेल में बंद जब सचिन संघमित्रा की पुलिस द्वारा की गयी अमानुषिक हत्या के बारे में बताता है तब पता चलता है कि क्यों यह विचारधारा शोषित कृषक—मजदूर समाज के लिए प्रतिरोध का सबसे बड़ा हथियार है और इसी हथियार के सहारे मर्द समाज शोषण और दमन के खिलाफ मोर्चाबंदी करना चाहते हैं — "हम लोग अभी कमजोर है, इसलिए कि अलग—अलग खड़े हैं। उपधेया ताकतवाला आदमी है। उसके इशारे पर कोर्ट—कचहरी, जज, बरिस्टर और कोतवाल सब नाचते हैं.. फिर भी हमें उससे लड़ना है। उसकी कमर तोड़नी है।" (विस्फोट : विजेंद्र अनिल, प्रतिमान प्रकाशन, इलाहाबाद, 1984 ई. पृ. 115—116)

किसानों और मजदूरों का यह संघर्ष इसलिए भी जरूरी है कि पुरानी सामंती व्यवस्था से मुक्त हो सकें और नई व्यवस्था में अपने लिए जगह बना सकें! परन्तु क्या यह संभव है ? शायद नहीं; क्योंकि नई आर्थिक व्यवस्था के कारण ग्रामीण जीवन पर भी बाजारवाद का इतना गहरा असर होता जा रहा है कि किसान और मजदूर उससे त्रस्त है। परन्तु स्थिति ऐसी कि कुछ भी करने की हालत में वे नहीं है। फिर क्या करें ? प्रतिरोध का तरीका क्या हो ? इन स्थितियों की तरफ कैलाश वनवासी की कहानी 'बाजार में रामधन' संकेत करती है जब रामधन नामक किसान अपने बैलों को बेचने से इंकार कर देता है। इसलिए नहीं कि कम दाम मिल रहे हैं, बल्कि इसलिए वह मन से अपने बैलों को बेचना ही नहीं चाह रहा है। उसे खेती और किसानी से प्यार है। बैलों में उसका मन रमता है। देखें, उसके बैल पूछ रहे हैं, "मान लो अगर दाऊ या महाराज तुम्हें चार हजार दे देते तो तुम क्या हमें बेच दिए होते ?"

रामधन ने जवाब दिया, "शायद नहीं। फिर भी नहीं बेचता उनके हाथ तुमको।" (बाजार में रामधन : कैलाश वनवासी, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 2004 ई., पृ. 18)

दरअसल समकालीन हिन्दी कहानी में किसानों और मजदूरों के जिंदगी के यथार्थ को कहानीकारों ने गहरे इतिहास बोध के साथ प्रस्तुत किया है जहाँ वे सामंती एवं पूँजीवादी व्यवस्था में शोषित होने के लिए बाध्य है। कहानीकारों ने दिखलाया है कि कृषि—जीवन पर आधारित कहानियों में खेतिहर मजदूरों की हालत सर्वाधिक दयनीय है और इसीलिए जब उन्हें कभी मौका मिलता है, तब किसी आन्दोलन का हिस्सा बनकर यद्यपि प्रगतिशील राजनीतिक संगठनों ने किसानों और मजदूरों के शोषण और दमन को समकालीन राजनीति में महत्वपूर्ण सवाल के रूप में प्रस्तुत किया तथा इससे उनकी दशा में बदलाव भी आया। परन्तु आज भी किसान देश के अनेक हिस्सों में भूमि—सुधार कानून लागू नहीं होने के कारण मुख्यधारा के अन्दर हाशिये की जिंदगी व्यतीत करने के लिए विवश है। विजयकान्त की 'बीच का समर', विजेंद्र अनिल की 'विस्फोट', सृंजय की 'कामरेड का कोट', मदन मोहन की 'बच्चे बड़े हो रहे हैं', मिथिलेश्वर की 'मेघना का निर्णय' मधुकर

सिंह की 'मेरे गाँव के लोग' आदि जैसी कहानियों में संघर्षरत कृषक—मजदूर समाजों की विवशता और शोषण के खिलाफ किये जा रहे प्रतिरोध को देखा जा सकता है। इसी प्रकार हरि भटनाकर की कहानी 'मुन्ने की उम्र', हृषिकेश सुलभ की 'बड़े राजकुमार', उदय प्रकाश की 'टेपचू', अरुण प्रकाश की 'भैया एक्सप्रेस', शिवमूर्ति की 'तिरिया चरित्त' और चन्द्रमोहन प्रधान की 'ऐही नगरिया के विध रहना' जैसी कहानियों में मजदूरों की जिंदगी की वास्तविकता को देखा जा सकता है जहाँ वे व्यवस्था के शोषण और दमन के शिकार हैं तथा भूख एवं ऋण जैसी समस्याओं से ग्रस्त! कई तो स्थितियों का सामना करने में अपने को असमर्थ पाकर गाँव और समाज छोड़ने को विवश हैं।... पर, समकालीन कहानी की यह विवशता है कि उनमें आये सीमांत किसान और मजदूर प्रेमचंद—युगीन कहानियों में आये पात्रों की तरह निरीह, असहाय और लाचार नहीं हैं; बल्कि समकालीन संगठनों एवं आन्दोलनों के साथ जुड़कर ये ताकतवर हो चुके हैं तथा परिवर्तन एवं मुक्ति के लिए साहस के साथ संघर्ष कर रहे हैं। यद्यपि परिवर्तन और क्रांति के भाव को लेकर उनके 'रोमानी' होने के आरोप भी लगते रहे हैं। (जैसे — उदय प्रकाश की 'टेपचू') लेकिन इस धारा की कहानियों का मूल स्वर सामंती और पूंजीवादी व्यवस्था दमन और शोषण से मुक्ति का रहा है और यही इन कहानियों की विशेषता भी है।

20.4.3 स्त्री-समाज

समकालीन हिन्दी कहानी को जिस प्रवृत्ति ने सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बनाया, वह है रचना और विचार के क्षेत्र में स्त्री-समाज की उपस्थिति। सन् 60 के बाद साहित्य; खासकर कथा के क्षेत्र में आयी स्त्रियों ने न केवल बौद्धिक जगत में हस्तक्षेप किया, अपितु स्त्री केंद्रित संगठनों और वामपंथी आन्दोलनों से जुड़कर रचना और विचार की दुनिया में स्त्री की पहचान को स्थापित भी किया। पश्चिम नारीवादी आन्दोलनों को भी इसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है, जहाँ सिमोन द बोउवा, केट मिलेट, बेट्टी फ्राइडेन, जर्मन ग्रीयर आदि ने आन्दोलनों और विचारों के जरिये स्त्री के अधिकारों की वकालत की तथा लिंग के आधार पर भेदभाव को प्रतिबंधित करवाने की दिशा में पहला अमरीका में 1966 में गठित राष्ट्रीय महिला संगठन की भी इसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। इन सबका असर यह हुआ कि सन् 70 के बाद स्त्री की दुनिया बदलने लगी और स्त्रियाँ घरों से बाहर निकली तथा श्रम के बाजार में उनकी भागीदारी बढ़ी। इनमें जिन पुस्तकों ने साहित्य और विचार की दुनिया में 'स्त्री' के महत्त्व को स्थापित किया, उनमें सिमोन द बोउवा की 'द सेकेंड सेक्स', केट मिलेट की 'सेक्सुअल पॉलिटिक्स' और जर्मन ग्रीयर की 'फीमेल यूनख' की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। यद्यपि हिन्दी के स्त्री लेखन की पृष्ठभूमि में इन विचारकों की कोई बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका नहीं है; फिर भी हम कृष्णा सोबती के उपन्यास 'मित्रो मरजानी' (1967), मृदुला गर्ग के 'चित्तकोबरा' (1979) और हाल के दशकों में प्रकाशित उन लेखिकाओं (जैसे मैत्रेयी पुष्पा, रमणिका गुप्ता आदि) को देख सकते हैं। इन पुस्तकों जिनमें 'देहमुक्ति' को भी स्त्री-मुक्ति का एक बड़ा रास्ता बताया गया है यह रास्ता पश्चिमी विचारकों के लिंग-भेद जैसे विचारों के करीब दिखलाई पड़ता है। परन्तु हिंदी में स्त्री लेखन की जो वैचारिक और पारम्परिक धारा रही है, उनमें मीराबाई, पंडित रमाबाई, महादेवी वर्मा जैसी लेखिकाएँ 'देह' के बदले भारतीय सामाजिक व्यवस्था को नियंत्रित एवं संचालित करने वाली सबसे बड़ी व्यवस्था — वर्ण-व्यवस्था तथा पितृसत्ता को सीधी चुनौती देने का साहस करती हैं। महादेवी वर्मा ने तो 'शृंखला की कड़ियाँ' (1942) में स्त्री की सामाजिक अस्मिता को महत्त्व देते हुए उस स्त्री-शक्ति को गतिशील करने की बात की है जिसके आधार पर स्त्रियाँ अपने अधिकारों को प्राप्त कर सकेंगी। इसीलिए हिन्दी के स्त्री-लेखन में दो धारा दिखलाई पड़ती हैं एक, जो भारतीय समाज

में नवजागरण की परम्परा से प्रभावित है दूसरी, जो पश्चिम से प्रभावित होते हुए पितृसत्ता को सीधी चुनौती देती है और स्त्री-मुक्ति को देह, अर्थ, प्राचीनता आदि से जोड़ती है। जहाँ पहली धारा के कहानीकारों में मन्नू भंडारी, मंजुल भगत, चित्रा मुद्गल, कृष्णा अग्निहोत्री, मेहरुन्सिसा परवेज, अनामिका आदि महत्त्वपूर्ण हैं, वहाँ दूसरी धारा में कृष्णा सोबती, मृदुला गर्ग, मैत्रेयी पुष्पा, अर्चना वर्मा, रमणिका गुप्ता आदि। इन स्त्री कहानीकारों ने समकालीन कहानी में स्त्री की सामाजिक अस्मिता को स्थापित करते हुए स्त्री-लेखन को एक नयी दिशा दी है।

यद्यपि पितृसत्ता का विरोध दुनिया के तमाम स्त्रीवादी विचारकों ने किया है क्योंकि यह (पितृसत्ता) परिवार की आर्थिक स्थिति, यौन-संबंध और सांस्कृतिक मामलों में पुरुष के वर्चस्व की बात करता है और स्त्री के विचारों को महत्त्व नहीं देता है। यहाँ तक कि वह एक तरफ जहाँ स्त्री को 'श्रद्धा' के रूप में मान देता है तो वहीं दूसरी तरफ 'वस्तु' के रूप में उनका उपयोग भी करता है। यही कारण है कि 'परम्परा' के नाम पर मौजूद इस प्राचीन व्यवस्था का स्त्रियों ने सर्वाधिक विरोध किया और इससे मुक्ति की बातें की। यद्यपि प्रेमचंद, जयशंकर प्रसाद, नागार्जुन, जैनेंद्र, यशपाल, फणीश्वरनाथ रेणु, मोहन राकेश, अमृतलाल नागर, द्विजेंद्र नाथ मिश्र, निर्गुण, अज्ञेय, भीष्म साहनी, शैलेश मटियानी, दूधनाथ सिंह, जगदम्बा प्रसाद दीक्षित, कमलेश्वर, पंकज बिष्ट, ओमप्रकाश वाल्मीकि, शिवमूर्ति, रमेश उपाध्याय, संजीव और अरुण प्रकाश जैसे पुरुष कथाकारों ने भी अपनी कहानियों में स्त्री-समाज से जुड़े सवालों को गम्भीरता से उठाया है, परन्तु स्त्री कथाकारों ने पुरुष वर्चस्व का विरोध करते हुए स्त्री-प्रतिरोध का जो साहित्य रचा उसमें स्त्री-पुरुष के संबंधों को एक स्त्री की दृष्टि से देखा तथा स्त्री के अनुभव तथा विचार को महत्त्व दिया एवं स्त्री-पुरुष के संबंध में स्त्री के अनुभव को सही बताया। उदाहरण के लिए कृष्णा सोबती और मन्नू भंडारी के अलावा ममता कालिया ने 'बोलनेवाली औरत', सुधा अरोड़ा ने 'काली लड़की का करतब', अर्चना वर्मा ने 'जोकर', 'राजपाट', सिम्मी हर्षिता ने 'ठहरी हुई बूंदे', कमल कुमार ने 'नहीं बाबू जी नहीं' अरुणा सीतेश ने 'मोहरा', मृणाल पाण्डेय ने 'लड़कियाँ', चित्रा मुद्गल ने 'लकड़बग्घा' नासिरा शर्मा ने 'बिलाव' मैत्रेयी पुष्पा ने 'गोमा हँसती है', मेहरुन्सिसा परवेज ने 'टोना', सुशीला टाकभौरे ने 'सिलिया' और गीतांजलि श्री ने 'अनुगूँज' जैसी कहानियों में पितृसत्ता को चुनौती देते हुए समाज में मौजूद इस धारणा को तोड़ा कि स्त्री जीवन की सबसे बड़ी विडंबना और त्रासदी – स्त्री होना है! इन लेखिकाओं ने यह बताया कि 'स्त्री' समाज का हिस्सा है उनकी पहचान एक अलग इकाई के रूप में होनी चाहिए। यही स्त्री-जीवन का और समाज का भी सच है। हाँ, यह जरूर है कि हिन्दी में लिखने वाली स्त्री कहानीकारों ने जो कहानियाँ लिखी उनमें एक तरह जहाँ भारतीय समाज की व्यवस्था के अन्दर हाशिये पर पड़ी स्त्री के लिए बेहतर जगह (Space) की मांग की; वहाँ, दूसरी तरफ पितृसत्तात्मक व्यवस्था की जगह स्त्री प्रधान सत्ता का शास्त्र रचने की वकालत की। मन्नू भंडारी, चित्रा मुद्गल, मंजुल भगत, मृणाल पाण्डेय, अरुणा सीतेश आदि जैसी स्त्री कहानीकार जहाँ पारम्परिक जीवन पद्धति एवं सामाजिक व्यवस्था में स्त्री अस्मिता की बातें करती हैं, वहाँ कृष्णा सोबती, मृदुला गर्ग, अर्चना वर्मा, मैत्रेयी पुष्पा और सुशीला टाकभौरे जैसी कहानीकार पारम्परिक सामाजिक व्यवस्था के समानांतर एक नयी व्यवस्था की मांग करती है। उदाहरण के लिए, चित्रा मुद्गल 'लकड़बग्घा' कहानी में जहाँ परिवार और समाज से व्यवस्था के अन्दर स्त्री को 'ज्ञान' की परम्परा से जोड़ने की माँग करती है और न मिलने पर पितृसत्ता के खिलाफ उठ खड़ी होती है; वहाँ, 'सिलिया' कहानी में सुशीला टाकभौरे की स्त्री नायिका स्त्री-पुरुष संबंध की सबसे मजबूत एवं पारंपरिक कड़ी विवाह को मानने से इंकार कर देती है। उसी प्रकार अर्चना वर्मा की 'जोकर' कहानी की बच्ची यह कहकर पाठकों को

स्तब्ध कर देती है कि स्त्री समाज में पुरुष की क्या जरूरत है : “कितना अच्छा हुआ न अम्मू कि पापा पहले ही मर गये। और हमारे घर में दूसरा भी कोई मर्द है ही नहीं। आई थिंग आई एम लक्की। रियली लक्की।” (देह देहरी : सं. चित्रा मुद्गल, साहित्य प्रकाशन, दिल्ली, 2003 ई., पृ. 104)

स्त्री समाज का कितना बड़ा यथार्थ है यह! यद्यपि इस कहानी में इस बात का भी उल्लेख है कि भारत में स्त्रियाँ, परिवार अथवा समाज में समुचित अधिकार और सम्मान न मिलने के कारण ही पुरुषों से अलग होती है इससे इतना तो साफ पता चलता है कि स्त्री कहानीकारों ने सामाजिक और पारिवारिक जिंदगी में पुरुषों के महत्त्व को अस्वीकारा नहीं है। पर, सवाल वही है कि वर्चस्व किसका हो ? स्त्री के जीवन पर खुद स्त्री का अथवा किसी और (मर्द) का ? समकालीन स्त्री कथाकारों ने अपने जीवन पर पुरुषों के अधिकार मानने से इंकार कर दिया है। स्त्री-लेखन की यह सबसे बड़ी विशेषता है तथा एक बड़ी विशेषता समकालीन हिन्दी कहानी में स्त्री कहानीकारों की एक अलग पहचान बनाना है।

20.4.4 दलित समाज

समकालीन हिन्दी कहानी में स्त्री-समाज की तरह दलित-समाज की उपस्थिति भी एक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति है। जिस तरह स्त्री आन्दोलनों के कारण सामाजिक जीवन की मुख्यधारा में स्त्री अधिकारों की मांग तेज हुई तथा उसमें सबसे बड़ी बाधा-पितृसत्ता का स्त्रियों ने व्यवहारिक और लेखन के स्तर पर विरोध किया; ठीक उसी तरह, 19वीं सदी में ज्योतिबा फुले और 20वीं सदी में बाबा साहब अंबेडकर के आन्दोलनों और विचारों के कारण सामाजिक जीवन की मुख्यधारा में हाशिये की जिंदगी व्यतीत कर रहे दलित समाज के अधिकारों को लेकर भी बहसें शुरू हुईं। खासकर, जब 1956 में अंबेडकर ने यह कहते हुए अपने समर्थकों के साथ हिन्दू धर्म को छोड़ने की घोषणा की कि “गले-सड़े धर्म को त्याग कर-जो असमानता और उत्पीड़न को मान्यता देता है-मैं आज एक नया जन्म ले रहा हूँ और नरक से मुक्ति प्राप्त कर रहा हूँ।... मैं हिन्दू धर्म को त्यागता हूँ।”- तो इसका गहरा असर सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक जीवन की मुख्यधारा पर पड़ा। महाराष्ट्र सहित पूरे भारत में दलित आन्दोलन को एक नयी दिशा मिली। लेखन और विचारधारा की दुनिया में बदलाव आया, इसे और ताकत मिली व 1961 में ‘अस्मिता दर्श’ के प्रकाशन और 1972 ई. मुंबई में गठित दलित पेंथर से, जिसने अपने घोषणापत्र में यह कहा कि “राजसत्ता, धर्म, सम्पत्ति और सामाजिक हैसियत के आधार पर होनेवाली सभी ज्यादातियों के खिलाफ संघर्ष के लिए प्रतिबद्ध अनुसूचित जातियाँ, जनजातियाँ, भूमिहीन मजदूर, छोटे किसान और घूमंतू जनजातियाँ दलित विमर्श : देवेंद्र चौबे, ओरियंट ब्लेक स्वान, दिल्ली, 2009, पृष्ठ 226) मराठी में नामदेव ढसाल सहित दया पवार, अर्जुन डांगले, बेबी कांबले, शरणकुमार लिंबाले, लक्षण गायकवाड़, सूर्यनारायण रणसुभे आदि का लेखन के क्षेत्र में कदम इन्हीं सारी परिस्थितियों का परिणाम था। हिन्दी के दलित साहित्य पर मराठी के दलित संदर्भों का गहरा प्रभाव है लेकिन 1912 एवं उसके बाद स्वामी अछूतानन्द के प्रयासों से हिन्दी क्षेत्र में दलित चेतना का उदय हुआ था। 1914 में प्रकाशित हीरा डोम की कविता ‘अछूत की शिकायत’ से भी हिन्दी में दलित लेखन को बल मिला, परन्तु दलित लेखन में तेजी 1990 के बाद आई। दलित रचनाओं में भारतीय समाज की सबसे मजबूत व्यवस्था – वर्ण-व्यवस्था का प्रतिरोध और वर्ण-व्यवस्था को मजबूत करने वाले दो कारक – ‘ज्ञान’ एवं ‘सत्ता’ के केंद्र में खड़े ‘ब्राह्मणवाद’ और ‘सामंतवाद’ के दमन और शोषण के खिलाफ आवाज उठाई गई है। ‘ज्ञान’ के संदर्भ में ओम प्रकाश वाल्मीकि की कहानी ‘पच्चीस चौक डेढ़ सौ’ एवं ‘सत्ता’

तथा संस्कृति के संदर्भ में 'सलाम' जैसी कहानियों का आना दलित कहानी की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। इन कहानियों ने हिन्दी की दलित कहानी की दिशा तय करने में निर्णायक भूमिका निभाई। उदाहरण के लिए 'पच्चीस चौक डेढ़ सौ' में कहानी में मास्टर का यह कथन कि "दिमाग में कूड़ा करकट जो भरा है। पढ़ाई-लिखाई के संस्कार तो तुम लोगों में आ ही नहीं सकते।" (वही पृ. 138) जहाँ दलितों के बारे में मुख्यधारा की बनी धारणा एवं मानसिकता को दर्शाता है, वहाँ 'सलाम' के नायक का यह कथन उनके अन्दर सवर्ण समाज की निर्मितियों एवं संकेतों के खिलाफ पनप रहे आक्रोश और प्रतिरोध के भाव को प्रकट करता है : "आप चाहे जो समझें... मैं इस रिवाज को आत्मविश्वास तोड़ने की साजिश मानता हूँ। यह सलाम की रस्म बन्द होनी चाहिए।" (सलाम : ओमप्रकाश वाल्मीकि; राधाकृष्णन प्रकाशन, दिल्ली, 2000, पृ. 17)

ज्ञातव्य हो कि गाँवों में यह एक पुरानी प्रथा है कि विवाह के बाद दलित युवकों को सलामी के लिए सवर्ण समाज के दरवाजे पर जाना पड़ता है। 'सलाम' का नायक हरीश विवाह के बाद सलामी के लिए जाने से इंकार कर देता है। आलोचकों ने इसी प्रकार के प्रतिरोध को भाव को 'दलित-चेतना' के रूप में स्थापित किया है।

दलित कहानी में मौजूद दलित समाज के जीवन्त अनुभव का यह वही यथार्थ है जिसे वर्ण एवं जाति केंद्रित समाजिक व्यवस्था के शोषण और दमन के खिलाफ दलित कहानीकारों ने रचा है। ओमप्रकाश वाल्मीकि के अलावा जिन अन्य कहानीकारों ने दलित कहानी को समकालीन हिन्दी कहानी के केंद्र में लाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई उनमें मोहनदास नैमिशराय की 'आवाजें', 'अपना गाँव' जय प्रकाश कर्दम की 'नो बार', सुशीला टाकभौरे की 'सिलिया', दयानन्द बटोही की 'सुरंग', एस.आर. हरनोट की 'जीनकाठी', कुसुम वियोगी की 'अंतिम बयान' श्यौराज सिंह बेचैन की 'शोध-प्रबंध', सूरजपाल चौहान की 'अहिल्या', प्रहलाद चन्द दास की 'लटकी हुई शर्त', शत्रुघन कुमार की 'हिस्से की रोटी', बिपिन बिहारी की 'बिवाइयाँ', रत्न कुमार सांभरिया की 'फुलवा', अजय नावरिया का 'उपमहाद्वीप' आदि प्रमुख हैं। इन कहानियों में लेखकों ने दलित समाज के उत्पीड़न, संघर्ष और प्रतिरोध का यथार्थ चित्रण किया है।

20.4.5 आदिवासी एवं हाशिये के अन्य समाज

समकालीन हिन्दी कहानी की एक मुख्य प्रवृत्ति आदिवासी समाज सहित उन हाशिये के लोगों की कहानी में उपस्थिति है जिन्होंने 1970 के बाद के भारतीय समाज की मुख्यधारा को गहराई से प्रभावित किया है। 1947 में स्वाधीनता के बाद विकास की प्रक्रिया के केंद्र में यद्यपि आदिवासी समाज रहा; परंतु असमान विकास की प्रक्रिया एवं भ्रष्ट तंत्र ने हाशिये के समाज के लिए बेहतर वैकल्पिक स्थितियाँ नहीं बनाईं। इसीलिए एक तरफ यह समाज (आदिवासी) विकास के कारण 'विस्थापन' का दंश झेलने के लिए जहाँ बाध्य रहा, वहाँ दूसरी तरफ मुख्यधारा के शोषण और दमन का शिकार होकर हाशिये की जिंदगी व्यतीत करने को विवश। प्रसिद्ध लेखिका महाश्वेता देवी का तो यहां तक कहना है कि "...गरीबों, आदिवासियों के साथ प्रशासन ने अच्छा व्यवहार नहीं किया है। मानों वे देश के नागरिक ही नहीं हों!" (वर्तिका सं. महाश्वेता देवी और अरुण कुमार त्रिपाठी, अक्टूबर-दिसंबर-2010 पृ. 65) कई बार आदिवासी अथवा जनजातीय संस्कृति को बचाने के नाम पर प्रशासन या व्यवस्था की तरफ से जो प्रयास हुए, उसमें इनका शोषण अधिक हुआ, संरक्षण कम। प्रसिद्ध आदिवासी विचारक वाहरु सोनवणे ने 1990 में महाराष्ट्र के थाणे जिले में पालघर तहसील में आदिवासी सम्मेलन में भाषण देते हुए कहा था कि "आदिवासी संस्कृति की सबसे पहली विशेषता 'सामूहिकता' है।" (आदिवासी साहित्य की अस्मिता, वाहरु

सोनवणे, पहल : 47 सं. ज्ञानरंजन, नवंबर 1992 से अगस्त-1993; पृ. 158) अर्थात् वह सामूहिकता जो आदिवासियों को घने जंगलों में मिल-जुलकर रहने और सामूहिक जीवन की आचार संहिता प्रदान करता है। आदिवासी विचारकों का मानना है कि उनकी इस विशेषता को मुख्यधारा ने कभी समझा ही नहीं! इसी व्याख्यान में वाहरू सोनवणे ने यह भी कहा था कि “दहेज देकर आदिवासी समाज को खरीदा जाता है और समाज तले स्त्री को वस्तु समान और गुलाम समान व्यवहार किया जाता है।” यानी कि मुख्यधारा का समाज आदिवासी समाज की स्त्रियों के साथ अश्लील और गुलाम-सा व्यवहार करता है। आदिवासी समाज द्वारा मुख्यधारा में शामिल न होने के सवाल पर उन्होंने कहा था कि “आदिवासियों को न्याय मिले, ऐसी एक भी धारा आज दिखाई नहीं देती।” (वही, पृ. 155)

स्पष्टतः आदिवासी समाज के संदर्भ में वाहरू सोनवणे ने जो सवाल उठाये हैं, वह भारतीय समाज और राष्ट्र-राज्य के विकास की प्रक्रिया एवं पद्धति पर एक गहरी चोट है। मुख्यधारा को नियंत्रित करने वाले लोग आज तक यह विश्वास नहीं दिला पाये हैं कि सरकारी तंत्र वास्तव में उनका विकास करना चाहते हैं। यदि हम समकालीन हिंदी कहानी पर विचार करें तो साफ पता चलता है कि वाहरू सोनवणे जैसे विचारकों द्वारा उठाये गये सवाल वास्तव में कितने प्रासंगिक और सही है। विकास की प्रक्रिया और आदिवासी समाज को मुख्यधारा में शामिल करने के सवाल का भालचंद्र जोशी की कहानी ‘पहाड़ों पर रात’, संजीव की ‘प्रेतमुक्ति’, ‘घर चलो दुलारी बाई’, ‘पांव तले की दूब’ और अरुण प्रकाश की ‘बेला एक्का लौट रही है’ जितना गंभीर सवाल उठाती है, वह विचारणीय है। उसे उपयुक्त कहानियों के निम्नलिखित अंशों द्वारा समझा जा सकता है—

एक

कितना अजीब बात है। हर महीने हम लोग प्रोग्रेस-रिपोर्ट भेजते हैं। सालों हो गये। शायद इसके पहले दूसरे भेजते होंगे। लेकिन प्रोग्रेस कहां हुई ? इन आदिवासियों के टपरो के रंग तक नहीं बदले।”

(पहाड़ों पर रात : भालचंद्र जोशी, पहल : 40 जुलाई-दिसंबर-1990; पृ. 63-64)

दो

यहां तक कि सिन्हा साहब जैसे मुख्यधारा के लोग जब यह कहने लगते हैं कि ‘न पढ़ाई-लिखाई, हुनर, अनुभव से मतलब न देश से, बस खुराफातें करते रहेंगे। कौन कहता है कि ये निरीह हैं ? मुझे आदमी चाहिए काम का आदमी। मैं आदिवासियों का उद्धार करने नहीं आया यहां।

(पांव तले की दूब : संजीव, हंस, सं. राजेंद्र यादव, सितंबर-1990, पृ. 67)

तीन

मैं भी रोया था और हमसे हमारी झोपड़ी, हमारा, सल्फी का पेड़, मेरे नंग धड़ंग दोस्त, थाना-गुड़ी और घोटुल सभी छूट गये। मैं मीलों दूर आने पर भी लौटकर अपने घर को आंगन को डबडबायी हुई नजरों से देखता रहा था।

(शिलान्यास : मनीष राम, इंद्रवती : सं. मनीष राम और बलराम, प्राचीन प्रकाशन, दिल्ली, 1982 पृ. 274)

स्पष्टतः उपर्युक्त तीनों कहानियों में, अंश एक और दो में, आदिवासी समाज के विकास की प्रक्रिया को जहां मुख्यधारा की निगाह से देखने का प्रयास है, वहीं तीसरे अंश में मध्य प्रदेश के मुरिया जनजाति के एक युवक के जन्मस्थान से दूर होने की पीड़ा और विस्थापन के मनोभावों को एक आदिवासी के नजरिये से बयान करने की कोशिश की गई है। उपर्युक्त अंशों से यह भी पता चलता है कि विकास के नाम पर आदिवासी समाज को कितना उत्पीड़ित किया गया है और मुख्यधारा में लाने के नाम पर उनकी भावनाओं के साथ कितना खिलवाड़। आदिवासी विचार वाहक सोनवणे लगाते हैं, वह शायद इसीलिए संजीव झारखण्ड आंदोलन के सवालों पर विचार करते हुए कहा 'पांव तले की दूब' में उसे 'एक शोषित राष्ट्रीयता का सवाल' मानते हैं। यानी कि आदिवासी समाज का सीधे तौर पर ऐतिहासिक रूप से शोषण एवं उत्पीड़न की प्रक्रिया से जुड़ा हुआ है। जिसे समकालीन कहानीकारों ने गहराई के साथ उठाया है। भालचंद्र जोशी, संजीव, अरूण प्रकाश, मनीष राम के अलावा जिन कहानीकारों ने समकालीन कहानी में आदिवासी समाज के विकास, विस्थापन और उत्पीड़न के सवाल को उठाया है उनमें मेहरुन्निसा परवेज (टोना), ललित शाह (गुरमा), राकेश वत्स (अवशेष), कैलाश वनवासी (सुरक्षित-असुरक्षित), पूरन हार्डी (बुझान) आदि की कहानियां महत्वपूर्ण हैं। यह जरूर है कि आदिवासी समाज या हिंदी में जो लिखा जा रहा है, उसमें आदिवासी लेखकों की उपस्थिति नगण्य है, परंतु पीटर पॉल एक्का (जंगल के जीत : उपन्यास) हरिराम मीणा (घूणी तपे तीर : उपन्यास), टी.वी. कट्टोमनी, निर्मला पुतुल आदि जैसे कुछ-एक लेखक और कवि हैं जो हिंदी में आदिवासी समाज की मुश्किलों, आकांक्षाओं एवं उनके जीवन-संघर्ष को इतिहास में मौजूद अंतर्विरोधों के साथ उठा रहे हैं। इससे लेखन, खासकर कहानी की दुनिया में उनकी (आदिवासी समाज) जंगल एवं जमीन से लगाव रखने वाले समाज के साथ ही शोषण तथा दमन के खिलाफ संघर्ष करने वाली छवि प्रजाति के रूप में भी बन रही है, जो यथार्थ में है।

हाशिये के अन्य समाज

समकालीन हिंदी कहानी में आम आदमी, सीमांत कृषक-मजदूर समाज, स्त्री दलित और आदिवासी समाज के अलावा जिन हाशिये के समाज की उपस्थिति दिखलाई पड़ती है, उनमें घरेलू नौकर, स्वरोजगार में लगे लोग, बेसहारा लोग आदि प्रमुख हैं। हाशिये के ये सभी लोग भारतीय सामाजिक जिंदगी की मुख्यधारा के अंदर विकास की प्रक्रिया से नहीं जुड़ पाने के कारण हाशिये की जिंदगी व्यतीत करने को विवश हैं। यद्यपि आर्थिक कारणों से ऐसा अधिक होता है तथापि मानवीय विकास की प्रक्रिया में कभी-कभी यह सामाजिक और सांस्कृतिक भी होता है। आर्थिक विषमता के कारण ही व्यक्ति, समूह अथवा समुदाय स्थान-परिवर्तन करते हैं तथा अपनी संस्कृति छोड़कर नयी जगह और नये समाज की संस्कृति में रहने के लिए बाध्य हो जाते हैं। इस हालत में वे लंबे समय तक नये परिवेश तथा व्यवस्था में अपने को सार्थक ढंग से समायोजित नहीं कर पाते हैं तथा उस अवधि में अजनबीयत की जिंदगी जीने के लिए विवश हो जाते हैं। समकालीन हिंदी कहानी में जिन कथाकारों ने ऐसे समाज पर कहानियाँ लिखी हैं, उनमें घरेलू नौकर पर केंद्रित कहानियों में अर्चना वर्मा की 'राजपाट', रमाकांत की 'भागमनी आयेगी', चित्रा मुद्गल की 'इस हमाम में', कृष्णा अग्निहोत्री की 'रमकलिया', अखिलेश की 'खोया हुआ पुल', हरि भटनागर की 'लड़के', शैलेंद्र श्रीवास्तव की 'दुहाई सरकार', जवाहर सिंह की 'रेतघर' आदि प्रमुख हैं। इन कहानियों में घरेलू नौकरों के साथ परिवार और समाज द्वारा उनके साथ में किये जा रहे अमानवीय व्यवहार उपेक्षा, शारीरिक यातना, अविश्वास, अपमान आदि जैसे भाव और समस्याओं को उठाया गया है।

समकालीन हिंदी कहानी की एक मुख्य विशेषता हाशिये के उस समाज का चित्रण है जो स्वरोजगार में लगा है तथा आये दिन तरह-तरह के मानसिक और शारीरिक उत्पीड़न का शिकार होता रहता है। इस प्रकार के समाज की प्रमुख समस्या अस्तित्व रक्षा और भूख का संकट है। इस प्रकार की कहानियों में सतीश जमाली की एक रिक्शाचालक पर केंद्रित 'ठाकुर संवाद', अमितेश्वर की बर्तनों पर कलई करने वालों पर केंद्रित 'धंधा', शैवाल की बुनकरों पर केंद्रित 'परास्चित', हरि भटनागर की नालसजि का काम करने वाले एक युवक पर केंद्रित 'सगीर और उसकी बस्ती के लोग', पंकज बिष्ट की ठेले पर मूंगफली बेचकर परिवार का गुजारा करने वाले दो लड़कों पर केंद्रित, 'टुण्ड्रा-प्रदेश', स्वदेश दीपक की मदारी पर केंद्रित 'तमाशा' और प्रेम कुमार मणि की तमाशा दिखाने वाले मदारी पर ही केंद्रित 'काँस के फूल', कर्मन्दु शिशिर की रिक्शाचालक पर 'प्रतीक्षा', चित्रा मुद्गल की तांगेवाले पर केंद्रित 'जनावर' आदि प्रमुख हैं। इन कहानियों में हाशिये के इस समाज की गरीबी, भूख, भय, अकेलापन, संकट आदि जैसी स्थितियों एवं समस्याओं का गहराई के साथ चित्रण किया गया है।

इसी प्रकार, समकालीन हिंदी कहानी में आये वे बेसहारा लोग भी हाशिये के महत्त्वपूर्ण चरित्र हैं जिन्हें समाज पागल अथवा भिखारी के रूप में जानता है। इस समाज पर केंद्रित जगदम्बा प्रसाद दीक्षित की 'पुल के नीचे', जवाहर सिंह की 'कंगाली', चित्रा मुद्गल की 'चेहरे' आदि में जहां भिखारियों की मार्मिक जिंदगी का बयान है, वहां शैलेश मटियानी की 'इब्बू मलंग', माधव नागदा की 'जहाकांटा', क्षितिज शर्मा की 'सीमांत' आदि में पागलपन की स्थिति में जीवन व्यतीत कर रहे लोगों की जिंदगी का यथार्थ चित्रण किया गया है। इन कहानियों में लेखकों ने यह दिखलाया है कि समाज की इनके प्रति कोई न कोई जवाबदेही है, और न ही सहानुभूति। मुख्यधारा में रहते हुए भी ये लोग उपेक्षित जिंदगी जीने के लिए बाध्य हैं। यद्यपि विचारकों का यह मानना है कि पागलपन और भिक्षावृत्ति का मुख्य कारण आर्थिक ही है; परंतु मनोवैज्ञानिकों का मानना है कि व्यक्ति के साथ ऐसी स्थिति सामाजिक उपेक्षा के साथ होती है इसीलिए, इस प्रकार के लोगों के व्यवहार असामान्य हो जाते हैं। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक ए.ओ. लवजॉय ने लिखा है कि "ऐसी दशा में व्यक्ति की मानवीयता खत्म हो जाती है तथा वह आदिम मनुष्य-सा व्यवहार करने लगता है।" (मैडनेस, मोरलिटी एंड मेडिसीन, कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क, वर्ष 1985, पृ. 3) जगदम्बा प्रसाद दीक्षित, क्षितिज शर्मा आदि की कहानियों के पागलपन एवं भिक्षावृत्ति से ग्रस्त चरित्रों में इस प्रकार के अमानवीय व्यवहार देखे जा सकते हैं। जगदम्बा प्रसाद दीक्षित की कहानी का भिखारी नायक मैकू तो बुढ़िया भिखारिन की गला दबाकर इसलिए हत्या कर देता है कि उसकी लाश के कफन के लिए अधिक भीख ले पायेगा; "मैकू ने बुढ़िया के शरीर को झकझोरा।... उसकी सारी कलाइयां पूरे जोर के साथ दब गयीं। एक हल्की घुटी-सी आवाज हुई।" (शुरुआत तथा अन्य कहानियां : जगदम्बा प्रसाद दीक्षित; संभावना प्रकाशन, हापुड़; 1980; पृ. 74) स्पष्टतः मैकू, बुढ़िया भिखारिन की गला घोटकर हत्या कर देता है। ए. ओ. लवजॉय इस प्रकार के चरित्रों के जिस अमानवीय व्यवहार की तरफ संकेत करते हैं, वह यहाँ साफ दिखलाई पड़ता है। कहना न होगा कि समकालीन समाज के दबाव ने व्यक्ति और समाज को इस कदर अमानवीय बना दिया है कि एक मुनष्य दूसरे के साथ सद्भाव के साथ नहीं रह सकता है। यह नैतिकता या सामाजिकता से मुक्त भारतीय समाज है या समकालीन आर्थिक एवं सामाजिक दबाव से निर्मित पागलपन अथवा भिक्षावृत्ति का शिकार कोई असामान्य हाशिये का चरित्र – कुछ भी साफ-साफ कहना मुश्किल है। यद्यपि प्रेमचंद की 'कफन' जैसी कहानी में भी इस प्रकार के चरित्र हैं, परंतु समकालीन कहानी में ऐसे चरित्रों की भरमार है। इसीलिए इस प्रकार की कहानियाँ अलग से विचार करने की मांग करती हैं। यह समकालीन कहानी की विशेषता भी है और महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति भी।

20.4.6 अप्रवासी समाज

समकालीन हिंदी कहानी में दो तरह के अप्रवासी समाज का उल्लेख दिखलाई पड़ता है – एक वह अप्रवासी समाज जिनके पूर्वजों को मजदूर के रूप में कई शताब्दियों पूर्व उपनिवेशवादियों द्वारा खेतों में काम करने के लिए जबरन या लालच देकर देश के बाहर मॉरीशस, सूरीनाम, त्रिनीडाड, ग्याना आदि देशों में ले जाया गया तथा जिनसे दासों जैसा कार्य लिया गया और जब 1834 ई. में दास प्रथा समाप्त हो गई तब 'शर्त-बंद' प्रथा के तहत उनसे अमानवीय स्तर पर काम करवाया गया तथा दो, वह प्रवासी समाज जो बेहतर जिंदगी की तलाश में मुख्यतः आजादी के बाद देश से बाहर काम करने गये तथा वापस एक बेहतर जिंदगी की आशा में उन्हीं देशों में बस गये। वापस नहीं लौट पाये। इनमें दूसरी तरह के लोगों ने भी प्रवास के दौरान अकेलापन या बाहरी होने की जो पीड़ा सही, उसे लेखन के जरिये तरह-तरह से व्यक्त किया। ऐसे कहानीकारों में प्रेमलता वर्मा (एक स्विस् डॉक्टर की मौत), लक्ष्मीधर मालवीय (छुट्टी का दिन) कृष्ण बिहारी (जड़ों से कटने पर), उषा प्रियवंदा (शून्य) उमेश अग्निहोत्री (हैप्पी न्यू इयर), अचला शर्मा (बेघर), उषा राजे सक्सेना (एक मुलाकात), दिव्या माथुर (फिर कभी सही), तेजेंद्र शर्मा (अभिशाप्त), सत्येन्द्र श्रीवास्तव (एक निरर्थक दिन की कथा), मोहन राणा (बुधवार की छुट्टी) पद्मेश गुप्त (डेड एंड), उषा वर्मा (इदस बार कहानी), अमित जोशी (वीजा) आदि ने प्रवासी जीवन के अनुभव, विचार, अकेलेपन आदि की त्रासदी, भारतीय संस्कृति के समानांतर नयी संस्कृति से अपने टकराव, नयी पीढ़ी की चुनौतियां, बुढ़ापा और देश न लौट पाने की पीड़ा आदि का मार्मिक चित्रण किया है। इन कहानीकारों की रचनाओं से समकालीन हिंदी भाषा और कहानी के वैश्विक फलक का विस्तार हुआ है। परंतु, वास्तविक अप्रवासी लेखन और उसमें आया समाज वह है जो पहले तो दास बनकर पानी के जहाजों में कई सदी पूर्व देश के बाहर गया और बाद में शर्तबंद प्रथा के तहत मजदूर (कुली) बनकर कार्य करने को विवश होते रहा। शर्तबंद प्रथा के तहत मजदूरी की अवधि समाप्त होने के बाद चाहकर भी वह देश वापस नहीं लौट पाया। वही की जमीन पर बस गया और दासों की तरह सदियों तक जिंदगी व्यतीत करता रहा। इस प्रकार के आप्रवासी समाज की पीड़ा ओर अनुभव, दूसरी तरह के प्रवासी समाज से बिल्कुल भिन्न है और आज भी कुछ ऐसे लोग और परिवार हैं, जो मॉरीशस, सूरीनाम, फीजी, ग्याना, त्रिनीडाड आदि देशों में आम आदमी की जिंदगी व्यतीत करने को विवश है। जीवन-यापन के लिए इस प्रकार के समाज ने ऐतिहासिक उत्पीड़न का दर्द सहा है, रात-रात भर परिजनों से बिछुड़ने के गम में आंसू बहाये हैं और दिन में मालिकों के खेतों में काम करते हुए कोड़ों की मार से पीठ का खून। जब सदियों बीत जाने के बाद वे देश उपनिवेशवाद से मुक्त हुए तथा नई सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था में उनके बच्चों ने सांसें लीं, पढ़ा-लिखा, तब उनका दर्द शब्दों के माध्यम से लेखन की दुनिया में आया। मॉरीशस के चर्चित कथाकार अभिमन्यु अनंत के उपन्यास 'लाल पसीना' और रामदेव धुरंधर के 'पथरीला सोना' सहित अनेक रचनाओं में मॉरीशस के अप्रवासी समाज के उत्पीड़न के ऐतिहासिक विवरणों में देखा जा सकता है जो 1968 ई. में मॉरीशस की आजादी के बाद व्यवस्थित रूप से आना शुरू हुआ। स्वाधीनता के बाद लेखकों ने खुलकर अपनी आजादी का इतिहास और समकालीन जिंदगी का यथार्थ लिखा।

पर, सवाल है, समकालीन कहानी में अप्रवासी समाज की उपस्थिति कैसी है? उनके सवाल क्या है? उनमें उनका कौन-सा सामाजिक यथार्थ अभिव्यक्त हो रहा है? उसकी वास्तविक पीड़ा क्या है? वहाँ स्त्रियों की जिंदगी कैसी है? ये कुछ ऐसे सवाल और

संदर्भ है जिनको ध्यान में रखते हुए समकालीन कहानी में आप्रवासी समाज के सवालों को ढूँढ़ा जा सकता है।

दरअसल अभिमन्यु अनंत और रामदेव धुरंधर के समानांतर जिन अप्रवासी लेखकों ने कहानियों के माध्यम से अप्रवासी समाज के अनुभव और यथार्थ का चित्रण किया है, वह उत्पीड़ित समाज के उन्हीं मुश्किल भरे जीवन-संघर्षों की ओर संकेत हैं, जिससे आज का समकालीन समाज गुजर रहा है। चाहे वह मुख्यधारा के समाज द्वारा उनके साथ किया गया अमानवीय व्यवहार हो या भूखे पेट दिन-रात काम करने की व्यथा, विकास की दौड़ में उपेक्षित अलग-थलग पड़ते जाने की पीड़ा हो या एक स्त्री होने की विडंबना के कारण शोषित होने का दर्द अथवा अपने देश तथा लोगों से अलग होने का संवेदनात्मक विछोह; ये कुछ ऐसे सवाल और संदर्भ हैं जो समकालीन कहानी को अप्रवासी लेखन के जरिये समृद्ध बनाते हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि आप्रवासी समाज पर केंद्रित कहानियाँ हमें उस वृहत्तर समाज, उसकी सोच, आर्थिक विवशता, सांस्कृतिक अस्मिता, अलगाव और इन सबकी रक्षा के लिए किये गये संघर्षों से जोड़ती हैं जिसे कई बार इतिहासकार या समाजशास्त्री महत्वहीन मानकर छोड़ देते हैं। उदाहरण के लिए, अभिमन्यु अनंत की कहानी 'कोलाहल', रामदेव धुरंधर की 'विष मंथन', पूजानंद नेमा की 'पराजय', भानुमति नागदान की 'जय दुर्गे', जयदत्त जीऊत की 'गिरवी रखी आत्मा', दीपचंद बिहीर की 'गुरुजी', मुनीश्वरलाल चिन्तामणि की 'कांटों पर चलते हुए', बीवी साहेबा फर्जली की 'बेबसी', धर्मवीर धूरा की 'चिल्लाहट', पुष्पा बम्मी की 'ए.के. सीस-साँ', हेमराज सुंदर की 'आस्था', प्रो. सुब्रह्मण्यम की 'बताओ, ट्रेन कहां जाती है', सूर्यप्रसाद बीरे की 'लक्ष्मी का देश' आदि कहानियों में अप्रवासी समाज के उत्पीड़न के इतिहास को पढ़ा जा सकता है। इन कहानियों में जहां 'कोलाहल' में मुक्ति के मायने को लेकर अंतर्द्वन्द्व हैं, वहां 'विष मंथन' में एक मजदूर स्त्री की विडंबनापूर्ण जिंदगी का यथार्थ; 'जय दुर्गे' में बदहाल जिंदगी व्यतीत कर रहे गिरमिटिया मजदूरों के जीवन-संघर्ष का दस्तावेज है तो 'गुरुजी' में भारतीय मूल के मजदूरों के प्रतिरोध का बयान; 'कांटों पर चलते हुए' में जहाँ अप्रवासी लोगों की अस्मिता और उनके दुःख का हाल दर्ज है, वहां 'लक्ष्मी का देश' में मजदूरों के शारीरिक और सांस्कृतिक उत्पीड़न का प्रतिरोधात्मक इतिहास दिखाया गया है। उदाहरण के लिए मुनीश्वरलाल चिन्तामणि की कहानी में एक अप्रवासी मजदूर का आया निम्न परिचय अप्रवासी समाज की उस पीड़ा का बयान करता है जिसे वे आज भी अपने साथ लिये चलते हैं : "जिला – आरा। परगना – समराऊ। गाँव – राजपुर। नं. 1025। नाम – जतन।" (मॉरीशस की हिंदी कहानियाँ : सं. कमलकिशोर गोयनका; साहित्य अकादमी, दिल्ली; 2000; पृ. 222)

इसी प्रकार, सूरीनाम के कहानीकार सूर्यप्रसाद बीरे की कहानी 'लक्ष्मी का देश' में अप्रवासी मजदूरों की उस पीड़ा का बयान है जिसे वे अपनी सांस्कृतिक अस्मिता और संघर्ष से जोड़कर देखते हैं। देखें, "मैंने एक बार नास्तिकों के यज्ञ के बारे में पढ़ा था, जिसमें एक कैदी का जीवन नष्ट कर दिया जाता है अपनी जाति का जीवन बचाने के लिए और वे ईश्वर के मजदूर भी नास्तिक है...।" (विश्व हिन्दी रचना; सांतावा विश्व हिंदी सम्मेलन-2003, सूरीनाम; भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद, दिल्ली; पृ. 172)

स्पष्टतः इस कहानी में अप्रवासी मजदूरों की उस जिंदगी और संघर्ष का बयान है जिसे वे अपनी सांस्कृतिक अस्मिता बचाने के लिए रचते हैं। अप्रवासी समाज पर केंद्रित कहानियाँ भी आर्थिक एवं सामाजिक यथार्थ के साथ-साथ अप्रवासी लेखन के इन्हीं संघर्षों का जीवंत चित्रण करती हैं, उनका अलगाव बोध; अपनी पुरानी जमीन से और जड़

से; जहाँ से सदियों पहले वे चले आये थे और नयी जगह पर लंबे समय तक व्यवस्थित नहीं हो पाने के कारण हाशिये की जिंदगी व्यतीत करते रहे। जिंदगी के इस कड़वे यथार्थ को यह अप्रवासी समाज आज भी एक ऐतिहासिक सच के रूप में साथ-साथ लिये चलता है। कहीं यह अलगाव आर्थिक है तो बहुलांश में सांस्कृतिक – जो उन समाजों की अब एक स्थायी हकीकत बन चुकी है। अलगाव की यह आर्थिक एवं सांस्कृतिक स्मृतियाँ तथा चिह्न उन्हें बार-बार इतिहास के साथ संवाद करने के लिये बाध्य करता है जिसे समझना एवं महसूस करना जरूरी है।

20.4.7 अल्पसंख्यक समाज

दरअसल 'संस्कृति' किसी भी देश के समाज और उसके भूगोल की एक विशिष्ट पहचान होती है, लेकिन कई बार जब यह धर्म और सत्ता से जुड़ जाती है, तब एक वीभत्स रूप ले लेती है। वह उस देश के इतिहास का सबसे कठिन दौर होता है जब सांस्कृतिक अस्मिताएं, धर्मसत्ता से जुड़कर सांप्रदायिक-संघर्ष में तब्दील हो जाती हैं। यद्यपि संप्रदायवाद किसी भी समाज की संस्कृति, धर्म, दर्शन विचारधारा आदि को समझने में मदद करता है लेकिन जब हम सांप्रदायिकता कहते हैं तो उसका अर्थ है संप्रदायों में बंटा समाज जिनके हित न सिर्फ अलग अलग होते हैं अपितु एक-दूसरे के विरोधी भी। इतिहासकार विपिन चंद्र मानते हैं कि 1937 ई. के बाद सांप्रदायिकता का जो दौर शुरू हुआ वह झूठ, हिंसा और घृणा पर आधारित था। इसलिए 1947 में देश के विभाजन के समय सांप्रदायिक दंगे हुए। यह हालात स्वाधीनता के बाद भी देश में बनी रही। समकालीन हिंदी कहानी में सांप्रदायिकता का जो रूप दिखलाई पड़ता है, वह बने रहे है जो 1947 में देश विभाजन के समय अज्ञेय, रामलाल, महीप सिंह और भीष्म साहनी जैसे कहानीकारों की कहानियों में दिखलाई पड़ता है। उसमें हिंसक दंगों में समाज राजनीति से दूर था। सांझी संस्कृति को बचाने की उसकी चिंता गहरी थी। परंतु, 1981 के बाद हुई सांप्रदायिक हिंसा, 1984 में इंदिरा गांधी की हत्या और 1992 में बाबरी मस्जिद के ध्वंस की घटना ने सांप्रदायिकता के स्वरूप एवं विचार को बदलकर रख दिया तथा धीरे-धीरे एक ऐसे समाज को निर्मित करना शुरू किया जहां मनुष्य ने सांप्रदायिक कारणों से एक अलग प्रकार की जिंदगी व्यतीत करना शुरू कर दिया। सांझी संस्कृति और विरासत की बात करना लोग भूलते गये। यद्यपि 1961 में स्थापित 'राष्ट्रीय समन्वय परिषद' ने सांप्रदायिकता के उभार को रोकने की कुछ कोशिशें कीं; पर उसका कोई बड़ा असर नहीं हुआ। समकालीन राजनीति ने सांप्रदायिकता के उभार को और अधिक राजनीतिक बनाया जिसका असर आम लोगों पर भी पड़ा। यह असर इतना गहरा था कि वह आम आदमी जो कभी सांझी संस्कृति और विरासत का हिमायती था, भयभीत होकर, धीरे-धीरे उस सांप्रदायिक राजनीति का हिस्सा बनता गया जिसने सामाजिक संबंधों को सबसे अधिक नुकसान पहुंचाया। परिणामतः लोग एक-दूसरे से दूर होते गये। ऐसा इसलिए भी हुआ कि सांप्रदायिकता के उभार की प्रक्रिया में धार्मिक अल्पसंख्यकों को भेद-भाव के साथ ही कई तरह के भय एवं चिंताओं ने परेशान करना शुरू कर दिया। परिणामतः अल्पसंख्यक समाज धीरे-धीरे फिरकापरस्त नेताओं के हाथों में आता गया। इसे धार्मिक संकीर्णता, धर्मांधता और रूढ़िवादिता ने और प्रोत्साहित किया। खासकर, 1992 तक आते-आते यह और गहराता गया। जिसका नतीजा बाबरी मस्जिद के ध्वंस के रूप में देखा गया। समकालीन लेखकों ने इन प्रवृत्तियों और प्रक्रियाओं को ठीक से पकड़ा तथा उसे लेखन का हिस्सा बनाया। प्रसिद्ध कथाकार स्वयं प्रकाश ने 'पार्टीशन-कहानी में कुर्बान भाई जैसे एक आम आदमी के धीरे-धीरे सांप्रदायिक व्यक्ति के रूप में तब्दील होने की प्रक्रिया को गहराई से दिखाते हुए लिखा है कि "—और वह शुक्रवार का

दिन था – मैंने देखा कि कुर्बान भाई की दुकान के सामने लतीफ भाई खड़े हैं...। और कुर्बान भाई दुकान में ताला लगा रहे हैं।... और उन्होंने टोपी पहन रखी है... और फिर दोनों मस्जिद की तरफ चल दिये।” (श्रेष्ठ हिंदी कहानियां : सं० लीलाधर मंडलोई, पीपुल्स पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली; 2010 ई; पृ. 64)

ये वही कुर्बान भाई हैं, जिनकी दुकान एक समय पढ़े-लिखों का अड्डा थी। जहाँ ग्राहकी भी चलती रहती और बहसों तथा ठहाके भी होते रहते। लगता ही नहीं था कि वह किसी खास संप्रदाय के व्यक्ति की दुकान है। लेकिन समय ने पलटा खाय़ा और कुर्बान ‘भाई’, भाई से ‘कुर्बान मियां’ हो गये। यह कहानी एक सरल और सामान्य आदमी के एक खास संप्रदाय में रूपांतरित होने की उस मार्मिक पीड़ा का बयान करती है जिसकी तरफ इशारा करते हुए कथा आलोचक विश्वनाथ त्रिपाठी ‘जन्मजात भय’, ‘सामाजिक भय’ और ‘ऐतिहासिक भय’ जैसे शब्दों की चर्चा करते हैं। वह मानते हैं कि कई बार इस प्रकार के ‘भय’ इतिहास के अंतिम सत्य बनकर रचनात्मक संवेदना में इस प्रकार घुलमिल जाते हैं कि वह अल्पसंख्यक समाज का अहम हिस्सा बन जाते हैं।

दरअसल समकालीन हिंदी कहानी में सांप्रदायिक हिंसा को कथा का हिस्सा बनाने के बहाने कहानीकारों ने पाठकों को उस सामाजिक एवं वैचारिक सत्य का अहसास कराया है जिसे हम स्वीकारना नहीं चाहते। यह सत्य है, सांप्रदायिक हिंसा का धीरे-धीरे सामाजिक विचारधाराओं में रूपांतरित होने का। इसमें उस सांप्रदायिक राजनीति की सबसे बड़ी भूमिका होती है जो देश में जनतांत्रिक सत्ता की बजाय, सांस्कृतिक राष्ट्रवादी सत्ता स्थापित करना चाहती है जिसकी तरफ उदय प्रकाश अपनी कहानी ‘और अंत में प्रार्थना’ में संकेत करते हैं। शिवमूर्ति की ‘त्रिशूल’, अवधेश प्रीत की ‘बशारत मंजिल’ और शमोएल अहमद की ‘सिंघारदान’ जैसी कहानियाँ इस सांप्रदायिक हिंसा और भय के विस्तार का वर्णन करती हैं। इसी प्रकार अरुण प्रकाश की कहानी ‘भैया एक्सप्रेस’ में भी सांप्रदायिकता के कारण पंजाब में काम कर रहे मजदूर के अंदर व्याप्त इस भय का प्रभाव देखा जा सकता है। गीतांजलि श्री भी ‘अनुगूँज’ में सांप्रदायिकता के कारण निर्मित मनःस्थिति का गहरा चित्रण करती हैं। इसका प्रभाव सबसे अधिक अल्पसंख्यक समाज पर पड़ता है तथा वह ‘डर’ और ‘भय’ के कारण धीरे-धीरे उस सांप्रदायिक विचार का हिस्सा बनता जाता है जो धार्मिक संकीर्णता, धर्माधता और रूढ़िवादिता के कारण पैदा होती है। समकालीन कहानी में समकालीन समय के इस सबसे बड़े सच का गहरा यथार्थ बोध दिखलाई पड़ता है। ये कहानियाँ पाठकों के अंदर उस गहरे विवेक को जाग्रत करती हैं जो हमें यह सबक देता है कि किस तरह संकीर्ण सांप्रदायिक राजनीति के कारण हमने मनुष्यता के इतिहास को कलंकित किया है। हमने सबक लेने की बजाय मनुष्य और उसकी सामाजिकता में दूरियाँ बढ़ाई हैं।

20.4.8 भूमंडलीकरण, बाजारवाद और नयी सदी का भारतीय समाज

बीसवीं सदी के आखिरी दशक में उदासीकरण और भूमंडलीकरण ने समकालीन समय और समाज को गहराई के साथ प्रभावित किया। इसे आखिरी दशक के रचनाकारों ने गंभीरता के साथ अपनी रचनाओं में उठाया है। इन प्रक्रियाओं के कारण भारतीय समाज एवं व्यवस्था में जो परिवर्तन आया, उसके अनेक तत्कालीन एवं ऐतिहासिक कारण थे; परंतु भूमंडलीकरण और बाजारवाद ने उसे एक निश्चित दिशा देने में अहम भूमिका निभाई। वह दिशा क्या थी, उसके परिणाम कैसे थे, सत्ता एवं व्यवस्था के साथ उसके रिश्ते कैसे बने – ऐसी अनेक बातें उभरकर सामने आयीं। परंतु जो प्रभाव पड़ा वह साफ-साफ दिखलाई पड़ रहा था। उन प्रभावों को निम्नलिखित रूपों में देखा जा सकता है :

एक

भूमंडलीकरण ने वित्तीय बाजार का विस्तार किया एवं बाजार, व्यापार, उद्योग, व्यवसाय आदि में सत्ता के हस्तक्षेप एवं भौगोलिकता की सीमा को समाप्त करने की मांग की।

दो.

इसने सांस्कृतिक अस्मितावादी आंदोलनों को ताकत प्रदान किया जिससे कि असमानता को दूर किया जा सके। इससे लोक समाज में मजबूती आयी।

तीन

बाजारवाद के बढ़ने से दूर तक देशों में एक सरीखे उपभोक्ता माल की भरमार हुई। विज्ञापन का बाजार बढ़ा। प्रत्येक वस्तु चाहे वह संस्कृति ही क्यों न हो, बाजार का हिस्सा होती गयी।

चार

इन स्थितियों ने भारतीय समाज के अंदर तक एक भिन्न प्रकार की चेतना का विकास किया, जिसे कुछ लोग उत्तर आधुनिक समाज के रूप में देखते हैं। विकास, बाजारवाद आदि कारणों से लोगों की जिंदगी में बदलाव आया। अकेलापन बढ़ा तथा आर्थिक अलगाव ने सामाजिक संबंधों को प्रभावित करना शुरू कर दिया। खेती की ज़मीनों के अधिग्रहण और वित्तीय बाजार का हिस्सा बनने के कारण गाँवों में परिवर्तन हुए। कृषि-संस्कृति के बाजारीकरण के चलते लोगों के आपसी संबंध बदले।

पांच

श्रम का भी भूमंडलीकरण हुआ। इससे मजदूरों में असमानता बढ़ी। श्रम में स्त्रियों की भागीदारी बढ़ी। शहरी क्षेत्र में उन पर बंदिशें कम हुईं।

दरअसल समकालीन समय में आये परिवर्तन की ओर विकास की इन प्रक्रियाओं ने साहित्य-विचारकों को गहराई के साथ प्रभावित किया। लेखक समाज का एक अहम हिस्सा होता है। इसीलिए सामाजिक संबंधों और व्यक्ति-व्यक्ति के बीच के संबंधों में आये परिवर्तनों को रचनाकारों ने सबसे अधिक महसूस किया। खासकर इन प्रक्रियाओं के कारण व्यक्ति का 'मन' (Mind) बदला, मन ने विचार बदले तथा एक ऐसी समानांतर धारा का निर्माण किया कि परंपरा के साथ द्वंद्वात्मक रूप से विचार मंथन करना नया समाज भूमंडलीकरण एवं बाजारवाद के समर्थन-विरोध से टकराता हुआ एक ऐसी स्थिति में आ पहुँचा जहाँ उनके पास उन्मुक्त विकास के बड़े-बड़े सपने थे। उसे बताया गया कि वह इन सपनों को जी सकता है, बशर्ते साहस करें। पर उसे यह नहीं बताया गया कि उसके जो आर्थिक स्रोत हैं, वह यथार्थ के धरातल पर सीमित हैं तथा उसे उन्हीं सीमित संसाधनों में सपने पूरे करने हैं। शायद इसी कारण, विचारक मार्शल मैक्लूहान ने जिस 'विश्वग्राम' की धारणा को नयी सदी के विकास एवं निर्माण के रूप में देखा उसे प्रगतिशील लेखकों ने नयी सदी का एक बड़ा 'छलावा' बताया जहाँ, प्रसिद्ध विचारक जेम्स एच मिटलमैन ने 1994 में थर्ल्ड वल्ड क्वाटरली में प्रकाशित लेख 'द ग्लोबलाइजेशन चैलेंज : सर्वाश्विंग एट द मार्जिन' में बताया कि मनुष्य वित्तीय बाजार का हिस्सा होकर मानवीय संस्कृति और परंपराओं से कटकर धीरे-धीरे बाजार का हिस्सा बनता जा रहा है। यद्यपि इन प्रक्रियाओं से लोगों की आमदनी बढ़ी, जीवन-स्तर, दूरदर्शन, इंटरनेट,

मोबाईल, फ्रिज आदि जैसे तकनीक से जुड़कर और अधिक सरल तथा सुविधाजनक हुआ, स्वास्थ्य जैसे सेवाओं में सुधार हुआ; लेकिन इनमें व्यक्ति और समुदायों की 'आय' का एक बड़ा हिस्सा इस गतिशील वित्तीय बाजार का मुख्य स्रोत बना एवं निजीकरण की प्रक्रियाओं ने देश और समाज को आत्मनिर्भरता के स्तर पर कमजोर बनाया। उदाहरण के लिए 'पानी' जो एक सर्वसुलभ चीज थी, आज इन प्रक्रियाओं के कारण बड़े 'बाजार' का हिस्सा बन गयी है जिसे 'स्वास्थ्य' के नाम पर खरीदा और बेचा जा रहा है। इसी प्रकार उससे अमीरी और गरीबी के बीच जो खाई बढ़ी है – उसमें गरीबी और गरीब तथा आर्थिक रूप से कमजोर व्यक्ति विकास और परिवर्तन की प्रक्रिया में 'सक्षम सहभागी' न होने के कारण क्रूर मजाक का हिस्सा बनता गया। वित्तीय बाजार के इस प्रभाव का समकालीन हिंदी के दो चर्चित कहानीकार पंकज बिष्ट और उदय प्रकाश की 'बच्चे गवाह नहीं हो सकते। एवं 'पाल गोमरा का स्कूटर' जैसी कहानियाँ भूमंडलीकरण के वित्तीय बाजार द्वारा निर्मित रिश्तों में समान खरीदने और फिर उसे ई.एम.आई. के जरिये एक निर्धारित अवधि तक चुकाने की स्थिति का मार्मिक चित्रण करती है। खास बात यह है कि वित्तीय बाजार के जटिल यथार्थ का बयान करती ये दोनों कहानियाँ मानवीय जीवन और व्यवहार में संरचनात्मक स्तर पर आये बदलाव और आम आदमी के धीरे-धीरे टूटने एवं अलग-थलग पड़ने का जो चित्र उपस्थित करती है, वह आज की जिंदगी की सबसे बड़ी त्रासदी है। इनमें पंकज बिष्ट की कहानी का नायक बिशन जहां विज्ञापन एवं उपभोक्तावादी बाजार के षड्यंत्र और भय का शिकार होकर मृतप्राय है, वहां उदय प्रकाश का नायक पाल गोमरा स्कूटर न चला पाने के कारण अंतहीन जड़ता का शिकार है उसका पागलपन देखें :

एक

पर परदे से बाहर जो हो रहा था, वह अविश्वसनीय था। रघुवा देखा रहा था, किसी फिल्म के स्लो मोशन शॉट की तरह अपनी पूरी विकरालता और बारीकी से उसके पापा बिशनदत्त अपनी धरती दबाये हुए सेमल के फूल के रूओं से हवा में थोड़ा-सा उछले थे और उसके बाद धप्प से फर्श पर औंधे मुंह जा पड़े थे।

(समकालीन परिभाषा, पृ. 60)

दो

दिल्ली के अत्यंत नगण्य और स्कूटर तक चलाना न जाननेवाले पॉल गोमरा को लगता कि वे किसी कब्र के भीतर सो रहे हैं और उनके मस्तिष्क के ठीक ऊपर लोहे की पटरियाँ बिछा दी गई हैं। जिन पर शताब्दी मेल धड़धड़ाती हुई दौड़ती जा रही है।

एक के बाद एक डिब्बे। अंतहीन।

(पॉल गोमरा का स्कूटर : उदय प्रकाश, पृ. 74)

स्पष्टतः दोनों कहानियाँ नयी आर्थिक व्यवस्था में आम आदमी के टूटने एवं उसके लोगों से अलग-थलग पड़ने के यथार्थ को चित्रण करती हैं; परंतु दोनों में मनुष्य के इस स्थिति तक आने का कारण एक ही है; और वह है, बाजार द्वारा मनुष्य को उपभोक्तावादी समाज में तब्दील करना उसे अपना हिस्सा बनाना!

वास्तव में, भूमंडलीकरण और उसके तहत निर्मित बाजार ने पिछली एक-दो सदी में एक ऐसे समाज को जन्म दिया जिसे उत्तर आधुनिक समाज या नयी सदी का भारतीय समाज

कहा जा सकता है। यह समाज विकास की नयी प्रक्रियाओं और भूमंडलीकरण की रूपज है और इसका तंत्र इतना जटिल है कि आम आदमी और जीवन कब उसका हिस्सा बन गये यह पता ही नहीं चला। कुछ इसे क्रिकेट जैसे खेलों के वैश्विक स्तर पर बाजार का हिस्सा होने का कारण मानते हैं तो कुछ कालाधन का नयी पूंजी एवं उत्पादन का तगड़ा हिस्सेदार होना; पर यह सच है कि कहीं-न-कहीं आर्थिक विकास की इन नयी अवधारणाओं ने इस नये समाज को रचने में मदद की है। बाजार ने इसे सजाया, संवारा और सहलाया है। हिंदी के समकालीन कहानीकारों ने सर्वाधिक महत्वपूर्ण काम यह किया कि विकास की इन प्रक्रियाओं से गुजर रहे समाज और उसमें मनुष्य के अलग-थलग पड़ने की पीड़ा एवं जिंदगी के उस मार्मिक यथार्थ को पकड़ने की कोशिश की जो समाज वैज्ञानिकों से उनके वस्तुवादी नजरिये के कारण कई बार छूट जाती है। उदाहरण के लिए प्रेमकुमार मणि की 'खोज', हरि भटनागर की 'समीर और उसकी बस्ती के लोग', संजय खाती की 'पिंटी का साबुन', ओमा शर्मा की 'भविष्य द्रष्टा', राजकुमार राकेश की 'अदृश्य अवतार और भटकती आत्माएं' आदि अथवा इस सदी के पहले दशक में स्थापित भूमंडलीकृत व्यापार और बड़े-बड़े मॉलों की चकाचौंध के पीछे गरीबों की धीरे-धीरे खत्म हो रही जिंदगी के यथार्थ को जितनी संजीदगी के साथ एकदम नये कहानीकारों ने हाल ही में प्रकाशित कहानियों में उठाया है, उसमें भूमंडलीकरण एवं बाजारवाद के प्रभाव में निर्मित हो रहे नयी सदी के भारतीय समाज के यथार्थ को आसानी से देखा एवं पहचाना जा सकता है। इनमें 'खोज' में एक ऐसे विकसित गाँव की कहानी है, जहाँ स्कूल, अस्पताल, घर और पुस्तकालय तो हैं पर मनुष्य, जानवर तथा परिंदा गायब है। इसी प्रकार 'भविष्यद्रष्टा' में जहाँ युवा पीढ़ी के सपने, विकास की – स्कूलों की बहनों एवं यादों के बहाने बदलते हुए समय के नग्न-यथार्थ का चित्रण है, वहाँ 'पिंटी का साबुन' यथार्थ बोध है। इन सबके विपरीत 'अदृश्य अवतार और भटकती आत्माएँ' में निजी जिंदगी में बाजारवाद के बढ़ते दखल का दर्दनाक चित्रण। यह दखल इतना गहरा है कि एक पत्नी, धीरे-धीरे दूसरी औरत में रूपांतरित होकर पहले पुरुष (पति) के होने के अर्थ को समाप्त कर देती है। कहानी का निम्नलिखित वाक्य, नयी आर्थिक व्यवस्था के इस गहरे यथार्थ-बोध की तरफ ही संकेत करता है : "मिस्टर सर्वेकर आपके पड़ोसी है।. . शाम को सर्वेकर ही उन्हें लेने आते थे। तभी से आपके यहां कार खरीदे जाने की बात चल रही है। जालान और सर्वेकर दोनों आपको कार खरीदवाना चाहते थे। सर्वेकर इज ए हैंडसम मैन। रियली मैनली हैंडसम!"

'सर्वेकर इज ए हैंडसम मैन! रियली मैनली हैंडसम!' यहाँ 'रियली मैनली हैंडसम' शब्द पर जोर दीजिए। यह इस नयी सदी के समाज की नयी भाषा है। अब पति की जगह पड़ोसी 'मैनली' और 'हैंडसम' लगता है। इसलिए कि पति के अंदर कार खरीदने की क्षमता नहीं है। वह व्यवस्था भी नहीं कर सकता। यानी कि आपको उपभोक्ता बनाने में मदद करें, बाजार का हिस्सा बनाये; वही सुंदर है वही यथार्थ है! प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक विचारक कांट से अलग जिसमें वह कहते हैं कि "वही सुंदर है, जो अर्थ से अलग भी अच्छा लगे।" अर्थात् सुंदरता रूप में नहीं, बल्कि मनुष्य के मन में है, उसके होने में है। जब मनुष्य ही नहीं रहेगा, उसकी आत्मा ही नहीं बचेगी; तो फिर कैसी सुंदरता और क्यों ?

आज सुंदरता का अर्थ बदल गया है। भूमंडलीकरण के तहत विकसित वित्तीय बाजार का यह वही सच है जो पंकज बिष्ट के 'बच्चे गवाह नहीं हो सकते' के बिशन के टी.वी.; उदय प्रकाश की कहानी 'पाल गोमरा के स्कूटर' के स्कूटर से होते हुए अब राजकुमार राकेश की 'अदृश्य अवतार और भटकती आत्माएं' के डिंगा सिंह की पत्नी के कारण तक आ पहुँची है। यहाँ बाजार सुंदरता को रच रहा है और वही लोगों को अब अच्छा भी लग

रहा है। नयी वित्तीय पूंजी के तहत निर्मित बाहर से चमचमाते हुए यह बाजार इस बात का अहसास भी करा रहा है कि अब अपनी चीजों पर आपका अधिकार समाप्त होने का समय आ गया है ! वह रागात्मक लगाव जो कभी अभाव में जीते पति-पत्नी का गोधूलि बेला में डूबते लाल-लाल सूर्य को देखने से होता था, अब भूमंडलीकृत समय में बाजार की चमक-दमक में होता है ! और उसके पीछे का जो अंधकार, सूनापन, अभाव है – वह तब दिखाई पड़ता है, जब आपके आर्थिक स्रोत समाप्त होने लगते हैं और आसपास के लोग साथ छोड़ने। कारण, बाजार तो बाजार है और वह 'मुद्रा' से चलता है ! कथा आलोचक विश्वनाथ त्रिपाठी समकालीन समय में व्याप्त जिस 'भय' की तरफ संकेत करते हैं (कुछ कहानियाँ : कुछ विचार, पृ. 135); वह समकालीन समय में निर्मित उसी अलगाव, अजनबीपन, अनास्था, निराशा आदि स्थितियों की उपज है। यहां मनुष्य, मनुष्य नहीं रह गया है। अपितु, वह वस्तु में तब्दील हो गया है। समकालीन कहानी की यह वही विशेषता है जो समय के इस दबाव और संघर्ष की अभिव्यक्ति से उपजी है और साफ-साफ दिखलाई पड़ रही है। यद्यपि इस दौर में स्त्री, दलित और आदिवासी समाज जैसी अस्मिताओं को 'जगह' मिली है पर सच तो यह है कि उसमें 'मनुष्य' और उसकी 'मनुष्यता' के लिए बने-बनाये 'स्पेस' (जगह) भी अब गायब होते जा रहे हैं। समकालीन कहानीकारों ने मानवीय जीवन के इस यथार्थ को गहराई के साथ पकड़ते हुए रचना का विषय बनाया है। उसके लिए कथा की एक नयी भाषा ही नहीं गढ़ी है अपितु कथा कहने का अंदाज़ भी समकालीन कहानीकारों ने बदला है। यह एक महत्त्वपूर्ण बात है तथा इसी से समकालीन रचना और विचार की दुनिया में कहानी का महत्त्व यथावत् बना हुआ है।

20.5 समकालीन हिंदी कहानी : कला, भाषा और जिंदगी का यथार्थ

समकालीन हिंदी कहानी की एक खास विशेषता कला और भाषा का जिंदगी के यथार्थ के साथ गहरा संबंध भी है। गुजराती के प्रसिद्ध लेखक गिजुभाई बधेका ने 1923 में प्रकाशित 'कथा-कहानी का शास्त्र' में कहानी के शास्त्र पर विचार करते हुए कहा था कि "लोगों की एक सामान्य धारणा होती है कि कहानी कहना तो बहुत आसान बात है, परंतु मेरी अपनी मान्यता यह है कि अच्छे-अच्छे शिक्षकों तक को कहानी कहना नहीं आती।... कहानी कहने में शब्दों का चयन, शब्द-संतुलन, शब्दों की यथार्थता जिस प्रकार कहानी का कारीगरी विभाग है, उसी प्रकार किस वस्तु को किस जगह रखें, किस रस को कितना विकास दें, विषयांतर को कितना महत्त्व दें आदि बातें कला-पक्ष में समाहित है।" (कथा-कहानी का शास्त्र; सर्जना, बीकानेर; नया संस्करण : 2008; पृ. 113-114)

अर्थात् कहानी में शब्द की व्यवस्था और वस्तुगत यथार्थ के साथ उनके संबंध – कहानी कला का अहम हिस्सा है यानी कि कहानी जिंदगी के यथार्थ के करीब होने के कारण पाठक के अधिक करीब पहुँचती है। प्रसिद्ध कथाकार प्रेमचंद कहानी के बारे में कहते कि "कहानी सदैव से जीवन से जीवन का एक अंग रही है।... साहित्य में कहानी का स्थान इसलिए ऊंचा है कि वह एक क्षण में ही, बिना किसी घुमाव-फिराव के आत्मा के किसी भाव को प्रकट कर देती है।" (साहित्य का उद्देश्य; हंस प्रकाशन, इलावाद; 2001' पृ. 45,57) अर्थात् अच्छी कहानी वह होती है, जिसमें कथाकार जीवन के यथार्थ को पाठकों के सामने साफ-साफ रख देता है। कैसे ? प्रेमचंद लिखते हैं कि वैसे ही जैसा कि आईना हमारे जीवन का एकदम सच प्रतिबिम्ब रख देता है। अर्थात्, पाठक कहानी में "उसके एक-एक वाक्य को, एक-एक पात्र को यथार्थ के रूप में देखना चाहते हैं।" (साहित्य का उद्देश्य; हंस प्रकाशन, इलाहाबाद; 2001' पृ. 59) प्रसिद्ध रूसी कथाकार मैक्सिम

गोर्की ने भी 'मैंने लिखना कैसे सीखा' में लिखा है कि साहित्य में हम "लोगों तथा उनकी जीवन-स्थितियों का ऐसा सच्चा चित्रण" करते हैं "जिसमें रंग-रोगन न लगाया गया हो।" (लेखन कला और रचना कौशल; पृ. 10) अर्थात् कहानी लेखन की पहली शर्त है कहानी में शब्दों और वाक्यों के ज़रिये जीवन का यथार्थ का चित्रण बिना घुमाव-फिराव के। पात्र, उनके भाव, भाषा आदि का एकदम यथार्थ चित्रण यानी कि कहानी में जैसे पात्र हो, वैसी ही उनकी भाषा। यहाँ तक कि जीवन-स्थितियों का एकदम सच्चा चित्रण। गोर्की के शब्दों में "बिना रंग-रोगन के"।

यदि हम समकालीन हिंदी कहानी के रचना-विधान को देखें तो साफ पता चलता है कि कहानीकारों ने समकालीन ज़िंदगी के यथार्थ का चित्रण करते हुए कहानी की रचना का जो विधान किया है उसमें उनकी भाषा और वाक्य रचना... ज़िंदगी के यथार्थ के अत्यंत करीब है। वहाँ बौद्धिकता का आग्रह भी है लेकिन इस तरह से कि वह कहानी कला का अहम हिस्सा लगे। विचार भी उन कहानियों में ऐसे आये जैसे कि उस पात्र की ज़िंदगी का अहम हिस्सा है और अगर वे नहीं होते तो कहानी किसी और दौर की लगती। सबसे बड़ी बात यह है कि रचनाकारों ने इस दौर की कहानियों में सामंती और पूंजीवादी व्यवस्था के खिलाफ प्रतिरोध का जो शास्त्र रचा है वह इस दौर की कहानियों की भाषा और संरचना के स्तर पर समाज का हिस्सा लगता है। लगता है कि ज़िंदगी की भाषा और जीवन जीने की कला का जितना यथार्थ समन्वय इस दौर के कहानीकारों ने किया है वह नयी और प्रेमचंद युग की कहानियों में भी नहीं दिखलाई पड़ता है। यहाँ सामाजिक आंदोलनों से प्रभावित जो समाज, उसकी संवेदना है, वह सामाजिक परिवर्तन और विकास की उन प्रक्रियाओं की तरफ संकेत करता है जिनसे रचना की दुनिया का विस्तार होता है। हाशिये के समाज की पहचान बनती है। उदाहरण के लिए, इस दौर के कहानीकारों ने ज़िंदगी के यथार्थ का बयान करने के लिए जिस भाषा को रचा है उसे देखकर पता चलता है कि भाषा केवल भावों और विचारों को ही अभिव्यक्त नहीं करती है, बल्कि वह पाठकों को समकालीन समय के दबाव, भय और उसके निहितार्थ का बोध भी कराती है। उनमें इतने तरह के संकेत, संदेश प्रक्रियाएँ हैं कि पाठक को जब इस बात का अहसास होता है तब वह चकित हो उठता है कि क्या भाषा और उसमें आये संकेत जीवन के यथार्थ का इस हद तक चित्र उपस्थित करते हैं कि वह जीवन को समझने का जरिया बन जाता है। इसे हम अरुण प्रकाश की कहानी 'भैया एक्सप्रेस' के निम्नलिखित संवाद के ज़रिये समझ सकते हैं –

माई भी रोज उससे पंजाब के बारे में पूछती थी।

“रोटी खाने, भात नई मिलै छौं ?”

“माई, ऊ लोग सब खाना के रोटी कहै छै। ई बड़का गिलास में चाह ! ओहन चाद हियां कहा ?

“मर सरधुआ ! चाह त हियै बनबे करेइ छै !”

नइगे माई, ऊ सब बनिहार वाला चाह में हफीम के पानी मिलाय दे छै। वैइसे थकनी हेंठ भे जाई छै ।”

“कत्ते देर का करै छहि ?”

“सात बजे भोर सै छ बज साँझ तक। बीच में रोटी खाइके छुट्टी – एक घटा।”

“तब तो हियों के मालिक से चंडाल मालिक छौ !... किरन डूबलाक बाद ?”

(भैया एक्सप्रेस : अरुण प्रकाश, पृ. 24)

‘भैया एक्सप्रेस’ के इस लंबे उद्धरण में हिंदी और उसकी क्षेत्रीय बोली मैथिली के क्रियापद से प्रभावित शब्द और वाक्य है। इन अंशों को पढ़ने से स्पष्ट पता चलता है कि कहानी की भाषा और कला के स्तर पर कहानीकार क्या कहना चाहता है। अगर हम इनका विश्लेषण करें तो निम्नलिखित बातें सामने आती हैं :

एक

माँ-बेटे के संवाद से पता चलता है कि बेटा मजदूर है तथा पूरा वार्तालाप संबंधित समाज की भाषा में है। यानी की पूर्वी-उत्तरी बिहार की वह भाषा-बोली जिस पर मैथिली के क्रियापद का प्रभाव है अर्थात् मजदूर समाज अपनी मातृभाषा में ही वार्तालाप करता है। इसलिए कहानीकार ने कहानी के यथार्थ बोध को जीवंत बनाये रखने के लिये लोकभाषा के मिश्रण का उपयोग किया है। इसका अर्थ यह भी निकलता है कि समकालीन कहानी में वातावरण भी जीवंतता को बनाये रखने के लिये कहानीकारों ने हिंदी के साथ-साथ क्षेत्रीय भाषा का उपयोग किया है।

दो

इस क्षेत्रीय भाषा के अध्ययन से पता चलता है कि संवाद करने वाले दोनों पात्र – जिनमें एक माँ और दूसरा पुत्र – पढ़े-लिखे नहीं है।

तीन

यह संवाद यह भी बतलाता है कि मजदूर समाज क्या खाते और पीते हैं और मालिक उनसे अधिक काम के लिए खान-पान में किन तत्वों का मिश्रण करता है। जैसे, इस कहानी में इस बात का उल्लेख है कि दूसरे क्षेत्र के मालिक बाहर से आये मजदूरों के चाय में अफीम मिला देते हैं ताकि वे अधिक देर तक काम कर सकें। मजदूर यह बात अपनी माँ को उत्साह में बताता है कि उन्हें मुफ्त में ‘हफीम’ भी मिल जाती है। उन्हें बीड़ी-सिगरेट नहीं खरीदना पड़ता है। परंतु, एक माँ को यह अजीब लगता है तथा वह निष्कर्ष निकालती है कि बाहर के मालिक की तुलना में स्थानीय मालिक कितना भला है। वह कहती है कि “हिया के मालिक से चांडाल मालिक छौ !”

चार

संवाद का अंतिम हिस्सा एक संकेत है। इस संकेत को खोले तो भाषा की यह संरचना जिंदगी के उस यथार्थ को सामने लाती है जिससे पता चलता है कि एक माँ को अपने बेटे की कितनी चिंता है। यह कहानीकार की कहानी कला है कि जिंदगी के इस क्रूर एवं अमानवीय यथार्थ को एक-एक शब्द, वाक्य के जरिये कितना सहज तरीके से रख देता है। यह कहानी पंजाब के आतंकवाद के साये में काम कर रहे उन खेतिहर मजदूरों की है जो अपने मूल स्थान की संस्कृति और सामाजिकता को छोड़कर आर्थिक कारणों से प्रवर्जन करते हैं कि नयी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में अनजाने हाशिये की जिंदगी जीने को विवश है।

रचना में मौजूद, यथार्थ की यह वही भाषा है जिसकी चर्चा करते हुए प्रसिद्ध संरचनावादी विचारक रोकन याकोब्सन ने अपनी भाषा संबंधी मॉडल में सात तरीके से व्यक्त किया है – संबोधक, संपर्क, संबोधित, संदर्भ, संदेश, संकेत और निष्कर्ष। इस मॉडल के अनुसार, यहाँ खेतिहर मजदूर 'संबोधक' है, जो अपनी माँ के 'संपर्क' में आने के बाद उसे 'संबोधित' करते यह 'संदेश' देता है कि मालिक उससे दिन-रात काम करवाते हैं। अब उसकी माँ उसके इस 'संदेश' को किसी और 'संदर्भ' (Context) में लेती है तथा चाय में अफीम मिलाने को पुत्र के जीवन के साथ खिलवाड़ करने का 'संकेत' (Code) मानते हुए यह 'निष्कर्ष' (Conclussion) निकालती है कि बाहरी मालिक कितना अत्याचारी है। पूरे संदर्भ को बयान करने के लिए कहानीकार अरुण प्रकाश ने कही वाचक के जरिये तो कहीं वृत्तांत के माध्यम से समकालीन समय में खेतिहर मजदूरों (Agriculuture Labour) की सामाजिक स्थिति का बयान किया है। रचनात्मक स्तर पर भाषा के माध्यम से जिंदगी के यथार्थ की प्रस्तुति समकालीन के पूर्व की कहानियों में एकदम अनुपस्थित है।

दरअसल समकालीन कहानीकारों ने कथा-रचना की प्रक्रिया में प्रेमचंद की किस्सागोई शैली को तो अपनाया है जो मिथिलेश्वर, संजीव, पंकज बिष्ट, उदय प्रकाश, अखिलेश, अवधेश प्रीत आदि कहानीकारों की मुख्य विशेषता है। परंतु, खास बात यह है कि समकालीन कहानी के पहले के कहानीकारों में किस्सागोई की इस शैली में थोड़ी-बहुत कल्पना का 'पुट' हुआ करती थी। इस थोड़ी-बहुत कल्पना के पुट को इधर के कहानीकारों ने उतार फेंका है तथा उसे यथार्थ की कसौटी पर कसते हुए उसके लिए नई भाषा शैली और संकेतों को महत्त्व दिया है। उदाहरण के लिए, यदि पंकज बिष्ट की कहानी 'बच्चे गवाह नहीं हो सकते?' में टी.वी. देखते हुए रघुवा को टी.वी. से गोली चलने के अहसास को कहानीकार यह कहकर प्रकट करता है कि "हाँ, गोली चलते उसने देखी थी – अपनी आँखों से।" तो इसका अर्थ यह नहीं कि बिशन की मृत्यु टी.वी. से गोली चलने से हुई; बल्कि कहानीकार इस कहानी की भाषा और उसके रचना के जरिये उपभोक्तावादी समय में रह रहे उस मध्यवर्ग की विज्ञापन की दुनिया के भय और आतंक को दिखाने की कोशिश की है जो नयी आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था में वित्तीय बाजार रच रहा है।

इसी प्रकार, अखिलेश की कहानी 'बायोडाटा' में बायोडाटा शब्द के पारंपरिक अर्थ के समानांतर जो अर्थ और प्रभाव निर्मित किया है, उसे कौन अपनाना चाहेगा? कारण यह अर्थ पारंपरिक सामाजिक जीवन की नैतिकता से एकदम भिन्न है तथा कहानी के माध्यम से उस समाज की भाषा और उसके 'मन' का चित्रण करता है जिसे आज की राजनीति रच रही है। लगता है कि यह भाषा कहानीकार खुद नहीं रच रहा है अपितु, उसे समकालीन स्थितियाँ रचने के लिए बाध्य कर रही है।

यह कैसा समाज है? उसकी सोच कैसी है? भाषा कैसी है? पर ऐसा आज राजनीति की दुनिया में रहा है। टिकट और पार्टी में पद पाने के लिए आम आदमी लगातार ऐसा होता जा रहा है और उसका लगातार ऐसा होता जाना उसकी नियति है यदि उसे राजनीति में रहना है तो! ऐसी स्थितियों का बयान न तो कहानी की प्रचलित और नैतिक मर्यादा में नियंत्रित भाषा में हो सकता था, न जीवन की बाहरी भाषा में! यह तो उस मनःस्थिति की भाषा है जिसे समकालीन कहानीकारों ने कलात्मक तरीके से रचा है। कारण, इसे पढ़कर आप संबंधित पात्र के प्रति घृणा से ही नहीं भर जाते हैं, अपितु, उसकी नियति पर पश्चाताप भी करते हैं। यह कहानीकार की कला है कि वह आपके अंदर 'घृणा' के साथ-साथ पश्चाताप का भाव भी जाग्रत करता है।

वस्तुतः समकालीन कहानी की कला और भाषा की निर्मित कहानीकारों ने उस बदलते हुए समय एवं समाज को लेकर किया है जो हमारे बीच मौजूद है। यह पिछले तीन-चार दशकों से समाज और राजनीति में हो रही उथल-पुथल का हिस्सा है। यह समाज अब वही भाषा नहीं बोलता है जो प्रेमचंद अथवा नेहरू-युग तक की नयी कहानी की भाषा में दिखलाई पड़ता है; बल्कि समकालीन समय से संवाद एवं असंगत स्थितियों के खिलाफ प्रतिरोध करता है यह समाज वह भाषा बोलने लगा है जो वैश्विक है। न मन और न ही संस्कार उसकी इस भाषा को रच रहा है। बल्कि रच रही है समकालीन स्थितियाँ और मनुष्य इतना विवश है कि वह इनसे निकलने में अपने को असमर्थ पा रहा है। उदाहरण के लिए, इधर के कहानीकारों द्वारा अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग करना आम बात है। लेकिन खास बात यह है कि समकालीन कहानियों में अंग्रेजी में आये ये शब्द कहानीकार के अंग्रेजी ज्ञान का प्रदर्शन नहीं करते हैं और न ही पात्रों की मनःस्थितियों का बयान। बल्कि, अंग्रेजी शब्द और भाषा के जरिये कहानीकारों ने समकालीन समय के दबाव को उभारने की कोशिश की है। जैसे कि हमने पूर्व में 'बायोडाटा' शब्द पर विचार किया है। इसी प्रकार स्वयं प्रकाश की कहानी 'पार्टीशन' का शीर्षक जिसका अर्थ 'विभाजन' है, कहानीकार ने हिंदी के शब्द के बदले अंग्रेजी के शब्द वे रखना अधिक उपर्युक्त समझा है तो दूसरा एक कारण समाज में इसका अधिक प्रचलन होना माना जा सकता है। पर, उससे अधिक इस कहानी में 'पार्टीशन' के जरिये लेखक ने समकालीन समय के उस बड़े यथार्थ को पकड़ने का प्रयास किया है जो 1947 के विभाजन और बाद में पनपे आतंकवाद एवं बाबरी मस्जिद के ध्वंस जैसी स्थितियों के कारण "सांप्रदायिकता" के रूप में हमारे समय में स्थापित हो गयी है। कहानी की यह एक बड़ी कला है।

दरअसल 'कला' को हमने कुछ सीमित परिभाषाओं में जकड़ रखा है। समकालीन लेखन और विचार की 'कला' की अनेक धारणाओं (जैसे कहानी पा, कथोपकथन आदि) को लेखकों एवं विचारकों ने चुनौती दी है। दलित और स्त्री कथाकार इसके महत्त्वपूर्ण उदाहरण हैं। उनके यहाँ कहानी कला के मायने बदल गये हैं। उनके कला सौंदर्यबोध के सृजन का जरिया नहीं है बल्कि जिंदगी की मुश्किलों को समझने का जरिया है। अर्थात् हम जैसे हैं, हमें उसी रूप में स्वीकार करें। चाहे हमारी भाषा हो या रूप, विचार हो या चाले चलना। उसे जीवन के आधार पर मापें; पारंपरिक कला के नियमों से नहीं। अर्थात् यहाँ भाषा या उसकी बनावट, कथा के शास्त्र को समझने के लिए नहीं, बल्कि जीवन के यथार्थ को समझने और उसे व्यक्त करने के लिए है। प्रसिद्ध समाजशास्त्रीय विचारक मिशेल जेराफा आदि यह कहते हैं कि कला में मनुष्य और सामाजिक और ऐतिहासिक दृष्टि से उभरकर आता है तो कहीं-न-कहीं वह यही बताना चाहते हैं कि कला का वास्तविक अर्थ है, मनुष्य को परिभाषित करना। मार्क्सवादी विचारक मैनेजर पांडेय के शब्दों में "समय, समाज और इतिहास की प्रक्रिया से परिभाषित मनुष्य" को रचना का विषय बनाना। (साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़, 1989, पृ. 227) आज की रचना में मौजूद भाषा भी कमोबेश यही काम कर रही है। यही कारण है कि समकालीन कहानीकारों ने कहानी की भाषा को साधा है और उसे जिंदगी के यथार्थ को समझने का महत्त्वपूर्ण जरिया बनाया है। यह समकालीन कहानी की कला की महत्त्वपूर्ण विशेषता है और जाहिर है, इसे निर्मित करने में सन् सत्तर के बाद के सामाजिक-राजनीतिक आंदोलनों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। चाहे वह किसानों और मजदूरों का आंदोलन हो अथवा स्त्री या दलितों का। सामाजिक समुदायों के विभिन्न आंदोलनों ने समकालीन कहानी की कला और भाषा को बुनियादी स्तर पर बदला है इसीलिए समकालीन कहानी की भाषा और उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति के रूपों को देखते हुए यह लगता है कि यह कहानीकारों के यथार्थवादी दृष्टि की ही अभिव्यक्ति है जिसे समकालीन सामाजिक और राजनीतिक आंदोलनों ने रचा है।

20.6 सारांश

इस इकाई में आपने हिंदी साहित्य में कहानी के महत्त्व को समझते हुए 'समकालीन हिंदी कहानी' का अध्ययन किया है। आपने देखा कि साहित्य में 'समकालीन' का क्या अर्थ है! यह सिर्फ शब्द अथवा कला का प्रतीक नहीं है बल्कि यह एक विचार भी है जो समकालीन समझ के दबाव से अभिव्यक्ति के भिन्न-भिन्न रूपों में दिखाई पड़ता है। कहानी भी उनमें से एक है। इसीलिए कहा जा सकता है कि समकालीन कहानी, समकालीन समय और विचार की कलात्मक अभिव्यक्ति है। इसीलिए समकालीन कहानी का इतिहास भी अलग होगा। हमने इस इकाई में उसे सामाजिक-राजनीतिक आंदोलनों एवं संघर्षों (जैसे-कृषि से जुड़े मजदूरों किसानों का संघर्ष, स्त्रियों एवं दलितों के सवाल से जुड़े आंदोलन आदि) से जोड़ते हुए 1990 के दलित, स्त्री, भूमंडलीकरण और बाजारवाद जैसे सवालों से जोड़कर समझने की कोशिश की है।

वस्तुतः समकालीन कहानी का इतिहास और स्वरूप उन गतिशील सामाजिक-वैचारिक निर्मितियों से भी निर्धारित होता है जिसे 'प्रवृत्ति' के रूप में रेखांकित करते हैं। आपने देखा कि समकालीन हिंदी कहानी में जो सवाल उभरकर आये हैं, उसे कहानीकारों ने गंभीरता के साथ पकड़ा और विचार किया है। चाहे वह सन् 67 के बाद कहानी में किसान, मजदूर, स्त्री आदि जैसे 'आम आदमी' का सवाल हो या नयी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में बदलते हुए मध्यवर्गीय समाज की चिंताएं। स्त्री और पुरुष के जिंदगी में आ रहे बदलाव है। अथवा लोकतांत्रिक व्यवस्था के असंगत एवं दमनकारी प्रवृत्तियों के खिलाफ प्रतिरोध की बात – समकालीन कहानीकारों ने अपनी कहानियों में गंभीरता के साथ इन सवालों को उठाया है। इसीलिए समकालीन कहानी में किसान, मजदूर, स्त्री, दलित, आदिवासी, आप्रवासी समाज के साथ हाशिये के अन्य समाज का सवाल महत्त्वपूर्ण बन पड़ा है। इसके साथ ही अल्पसंख्यक समुदाय, समकालीन समय में सांप्रदायिकता जैसे सवालों से जिस तरह से रूबरू होता है तथा एक 'भय' एवं 'आतंक' का माहौल निर्मित होता है, आपने देखा कि उसे कहानीकारों ने कितना व्यवस्थित तरीके से उठाया है। 1947 के विभाजन में सांझी संस्कृति टूटी थी, समाज टूटा था, परंतु 1992 के बाबरी मस्जिद के बाद व्यक्ति टूटा, उसके आपसी प्रेम और लगाव समाप्त होने के कगार पर पहुंच गया। परिणाम यह हुआ कि आम आदमी पुनः 'मनुष्य' से किसी खास 'धार्मिक व्यक्ति' में तब्दील होने के लिए बाध्य होता गया। यह समकालीन समय का 'दबाव' और 'भय' ही था व्यक्ति और समाज उससे प्रभावित हुआ और कहानीकारों ने उसे रचना का विषय बनाया। हमने कई कहानीकारों की कहानियों पर विचार करते हुए देखा कि यह 'भय' व्यक्ति को कितना आतंकित करता है।

दरअसल, समकालीन हिंदी कहानी समकालीन समय के दबाव से निर्मित मनुष्य और समाज की कलात्मक एवं वैचारिक निर्मित है। आज जब समय तेजी से बदल रहा है और वित्तीय बाजार जीवन का अहम हिस्सा होता जा रहा है, तब साहित्य और कला की भूमिका बढ़ जाती है। समकालीन कहानी का अध्ययन अपने समय और समाज का भी अध्ययन करना है। आज इसीलिए समकालीन हिंदी कहानी साहित्य का एक जरूरी हिस्सा बन गयी है। इसे समझना आज के मनुष्य को समझना भी है। चाहे वह कहानी की भाषा हो या कला – आज की जिंदगी और उसके यथार्थ को समझने में मदद करती है। हिंदी के समकालीन कहानीकारों की कहानियों की भाषा और कहानी की संरचना को देखते हुए साफ पता चलता है कि यह भाषा और संरचना वहीं नहीं है, जो प्रेमचंद युग की कहानी या नयी कहानी की थी। यह भाषा, यथार्थवाद से निर्मित भाषा है और जिंदगी

के यथार्थ को समझने में मदद करती है। आपने देखा कि समकालीन कहानीकारों ने कैसे भाषा का रचनात्मक उपयोग किया है। इससे समकालीन हिंदी कहानी समृद्ध हुई है। समकालीन कहानी में 'वस्तु' और 'कला' के स्तर पर आये ये बदलाव यह संकेत करते हैं कि भविष्य की हिंदी कहानी का स्वरूप क्या होगा।

अभ्यास

1. समकालीन हिंदी कहानी की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर विचार कीजिए।
2. समकालीन का अर्थ क्या है ? समकालीन हिंदी कहानी की आलोचना और विचारधारा को ध्यान में रखते हुए विचार कीजिए।
3. समकालीन हिंदी कहानी की मुख्य प्रवृत्तियाँ क्या हैं ? विचार करें।
4. समकालीन हिंदी कहानी में हाशिये के समाज का विश्लेषण कीजिए।
5. समकालीन हिंदी कहानी अपने समय और विचार की कलात्मक अभिव्यक्ति है। इस कथन के संदर्भ में समकालीन हिंदी कहानी पर विचार दें।
6. समकालीन हिंदी कहानी की भाषा और कला पर विचार कीजिए।

उपयोगी पुस्तकें

1. मधुरेश : सिलसिला (समकालीन कहानी की पहचान); प्रकाशन संस्थान, दिल्ली, 1979
2. विश्वनाथ त्रिपाठी : कुछ कहानियाँ : कुछ विचार, राजकमल प्रकाशन दिल्ली, 1998
3. जानकीप्रसाद शर्मा : कहानी का वर्तमान, राजसूर्य प्रकाशन, दिल्ली, 1998
4. देवेन्द्र चौबे : समकालीन कहानी का समाजशास्त्र, प्रकाशन संस्थान, दिल्ली, 2001
5. मधुरेश : हिंदी कहानी : अस्मिता की तलाश, आधार प्रकाशन, पंचकूला, 2005
6. लीलाधर मंडलोई : श्रेष्ठ हिंदी कहानियाँ (1970—1980) स्वयं प्रकाश (सं.) और (1980—1990), पीपुल्स पब्लिशिंग हाऊस (प्रा.) लि., नयी दिल्ली, 2010
7. रवींद्र कालिया (सं.) : वर्तमान साहित्य, कहानी महाविशेषांक, अप्रैल और मई 1991 (दो भाग) (सं.) सेवक राम यात्री, विभूतिनारायण राय, गाजियाबाद
8. गंगा प्रसाद विमल : समकालीन कहानी का रचना विधान, सुषमा पुस्तकालय, दिल्ली, 1967

9. ऋषिकेश एवं राकेश रेणु (सं.) : समकालीन परिभाषा (समकालीन हिंदी कहानी पर केंद्रित विशेषांक), जुलाई-दिसंबर, 1991
10. द्विवेदी, हजारीप्रसाद : साहित्य सहचर, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
11. वर्मा, धीरेंद्र (प्र. संपादक) : हिंदी साहित्य कोश, भाग-2, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी
12. मधुरेश : हिंदी कहानी का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
13. हिंदी कहानी का इतिहास (भाग-2), गोपाल राय, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
14. हिंदी कहानी का विकास, मधुरेश, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
15. नई कहानी नए सवाल, सत्यकाम, अनुपम प्रकाशन, पटना।
16. हिंदी कहानी : पहचान और परख, इन्द्रनाथ मदान, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।

